वर्ष २४
अङ्क ६
कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, जून सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

शास्त्र और शस्त्रका दान

कामासक्ति, ममत्व छोड़ दो; तज दो अहङ्कार भी पार्थ !
सावधान हो धर्मयुद्धसे पूजो मुझे, वीर ! निस्वार्थ !

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
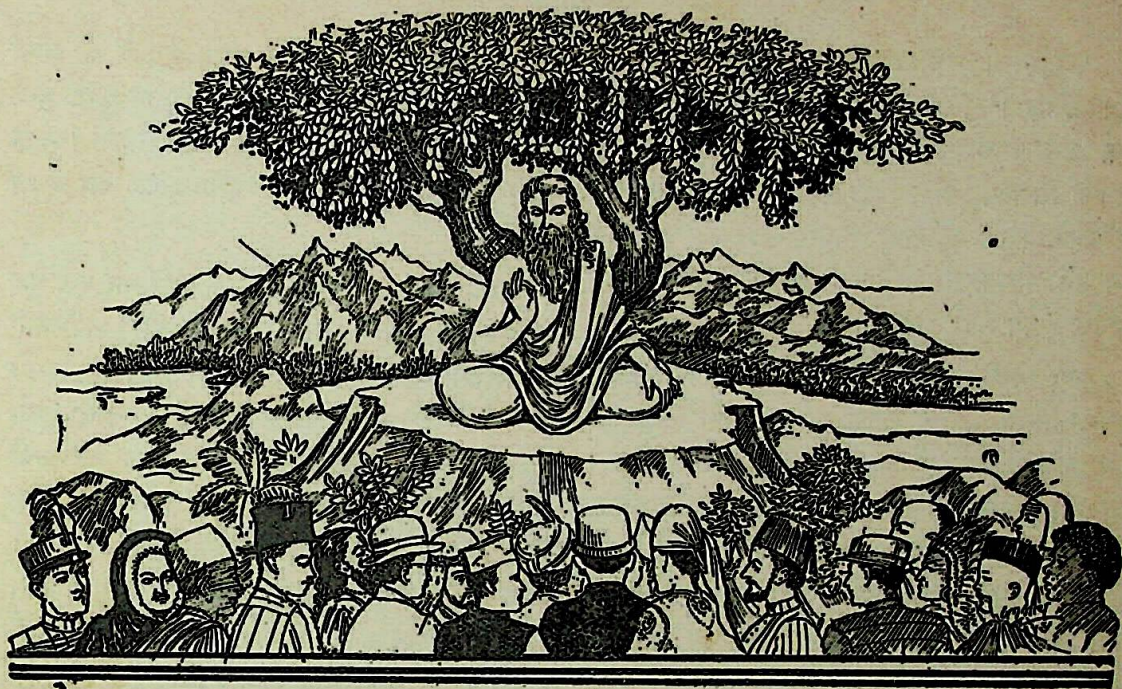
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २००७, जून १९५० { संख्या ६ पूर्ण संख्या २८३

धर्मयुद्ध—हरिका आराधन

रणकी, जीवन-रणकी बात ।
पार्थ-पार्थसारथिकी बातें, मनन करो दिन-रात ॥
शुचि श्रद्धा विश्वास धर्मपथ,
क्यों स्तम्भित होवे जीवन-रथ ।
व्यर्थ ममत्व मोह भय मनका, यह कर्तव्य प्रभात ॥
अहङ्कार आसक्ति त्याज्य बस,
हो द्वन्द्वोंमें अन्तर समरस ।
धर्म-युद्ध—हरिका आराधन, करो कर्म सहजात ॥

याद रक्खो—निकम्मा मन प्रमाद करता है। जबतक वह किसी दायित्वपूर्ण कार्यमें लगा रहेगा, तब-तक उसे व्यर्थकी, अनावश्यक तथा न करने योग्य बातोंके सोचनेका अवसर ही नहीं मिलेगा। पर जहाँ दायित्वके कामसे छुटकारा मिला—स्वच्छन्द हुआ कि मन उन विषयोंको सोचेगा, जिनका स्मरण भी उसे कार्यके समय नहीं होता था।

याद रक्खो—जब नया साधक ध्यानका अभ्यास आरम्भ करता है, तब उसके सामने सबसे बड़ी एक यही कठिनाई आती है कि अन्य समय जिन सड़ी-गली गंदी और भयावनी बातोंकी उसे कल्पना भी नहीं होती, वे ही उस समय याद आती हैं और वह घबरा-सा जाता है। इसका कारण यह है कि वह जिस वस्तुका ध्यान करना चाहता है, उसमें तो मन अभ्यस्त नहीं है और जिन विषयोंमें अभ्यस्त है, उनसे उसे हटा दिया गया है; ऐसी हालतमें वह निकम्मा हो जाता है। पर निकम्मा रहना उसे आता नहीं; इसलिये वह उन पुराने चित्रोंको उघेड़ने लगता है जो उसपर संस्काररूपसे अङ्कित हैं और जिनके उघेड़नेका उसे अन्य दायित्वपूर्ण कार्योंमें संलग्न रहते समय अवसर नहीं मिलता।

याद रक्खो—यदि साधक इस स्थितिमें घबराकर ध्यानके अभ्यासको नहीं छोड़ बैठेगा और लगनके साथ अभ्यास करता रहेगा तो कुछ ही समयके बाद अभ्यास दृढ़ हो जानेपर मन ध्येय वस्तुके स्वरूपमें रम जायगा और फिर तदाकार भी हो जायगा।

याद रक्खो—प्रमादी मनवाला मनुष्य ही ऐसे काम कर बैठता है, जो उसे नहीं करने चाहिये। प्रमादका अर्थ ही है—करने योग्य कर्मका न करना और न करने योग्यका करना। इसलिये मनको निरन्तर शुभ चिन्तनमें लगाये रक्खो। और उसका उसपर इतना दायित्व थोप दो कि यह काम तुम्हें अवश्य करना है एवं सुन्दर सुव्यवस्थित रूपसे करना है। कार्यमें इतना संलग्न रहना चाहिये कि उसीका चिन्तन करते-करते नींद आ जाय और उठते ही फिर उसीका चिन्तन हो। ऐसा होनेपर तदाकार वृत्ति शीघ्र और सहज होती है।

याद रक्खो—नये विषयमें लगनेसे मन एक बार घबराता है, रुकता है, ऊबता है और कभी-कभी प्रबलरूपसे उसे अस्वीकार भी कर देता है; परंतु इससे घबराओ मत। गाय पहले-पहल नयी जगह, नये खूँटेपर बँधनेसे इन्कार करती है, चाहे वह नयी जगह उसके लिये पहलीकी अपेक्षा कितनी ही अधिक सुखप्रद क्यों न हो; जरा-सी रस्सी ढीली होते ही या अवसर पाते ही भागकर पुरानी जगह पहुँच जाती है। इसी प्रकार मन भी नये विचारमें लगना नहीं चाहता। और इसी कारण विषय-चिन्तनमें अभ्यस्त मन भगवच्चिन्तनमें लगनेसे घबराता, रुकता, उकताता और इन्कार करता है। पर यदि निराश न होकर उसे निरन्तर लगाते जाओगे तो वह विषय-चिन्तनको छोड़कर भगवच्चिन्तनमें वैसे ही लग जायगा, जैसे गौ कुछ दिनों बाद पुरानी जगहको भूलकर नयी जगहमें ही रम जाती है।

याद रक्खो—जीवका विषय-चिन्तनका अभ्यास बहुत पुराना है। उसे छुड़ाकर भगवच्चिन्तनमें लगानेमें यदि एक मानव-जीवनका आधेसे अधिक काल भी लग जाय तो भी बहुत थोड़ा ही है। मन बड़ा दुर्निग्रह और चञ्चल है, पर अभ्यास (नूतन-वस्तु—भगव-चिन्तनमें बराबर लगाने) और वैराग्य (पुराने विषय-चिन्तनके दुःख-दोष दिखा-दिखाकर उससे हटाने) का सावधानीके साथ सतत प्रयोग करनेपर वह भगव-चिन्तनपरायण हो ही जायगा। फिर किसी भी प्रमाद-की आशङ्का या सम्भावना नहीं रहेगी।

'शिव'

मन्त्र या देवतारहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०,डी० लिट्०)

मन्त्रका स्वरूप क्या है, मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिमें उसका क्या स्थान है, मन्त्र-साधनाका वास्तविक अभिप्राय क्या है—ये सारे प्रश्न साधारणतः तत्त्वजिज्ञासु साधकके हृदयमें उठा करते हैं। इनके साथ दूसरे आनुषङ्गिक प्रश्न नहीं उठते, ऐसी बात नहीं है। इस विषयका यथार्थ समाधान जाननेके लिये मन्त्ररहस्यसे अवगत होना आवश्यक है।

परमेश्वर सृष्टिके आदिमें अपनी बहिरङ्गा शक्ति महामायाके या विन्दुके ऊपर दृष्टि डालते हैं। यह दृष्टिक्षेप ही चैतन्य-शक्तिका सञ्चार है। दृष्टिपातके पूर्व क्षणतक महामाया सुप्त अवस्थामें विद्यमान रहती हैं। विशुद्ध जडशक्तिका नाम महा-माया है। वे सारे अणुरूपी जीव जो पूर्वकल्पकी साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदिके फलस्वरूप अशुद्ध जड शक्तिरूपी मायाको अतिक्रमण करनेमें तो समर्थ हो चुके हैं, परंतु परमेश्वरके निज स्वरूपमें उपनीत नहीं हो पाये हैं, महामायाके गर्भमें विद्यमान रहते हैं। इन सारे जीवोंकी अवस्था सुषुप्तिवत् होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मायासे मुक्त होनेके फलस्वरूप इन जीवोंके जिस प्रकार अशुद्ध मायिक देह अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह नहीं रहते, उसी प्रकार कोई उच्चतर विशुद्ध देह भी नहीं रहता। वे मायाके ऊपर, महामायाके गर्भमें लीन रहते हैं। मायाके गर्भमें रहना जिस प्रकारका होता है, महामायाके गर्भमें रहना भी बहुत कुछ उसी प्रकारका होता है। दोनोंके बीचमें केवल आवरणगत पार्थक्य होता है, अप्राकृत दिव्य अवस्था या भागवत-अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्यके विकासके विना उसका आविर्भाव नहीं होता। वही पशुत्वके परेकी अवस्था है। मायाकी निद्रा और महामायाकी निद्रा दोनों ही स्थलोंमें पशुभाव विद्यमान रहता है। जबतक पशुत्व है, तबतक वास्तविक जागृति कहाँ ?

महामायाकी विश्रान्तिके समय उनके गर्भस्थित जीव सुषुप्त होते हैं। उनका जीवत्व पशुत्वमूलक होता है। जबतक चैतन्यका उन्मेष नहीं होता, तबतक वह तिरोहित नहीं होता। उन विदेहकैवल्यप्राप्त जीवोंकी भगवत्ता-प्राप्तिके मार्गमें दो अन्तराय हैं—एक आत्माका स्वरूपगत अणुत्व या पशुत्व, यह अभिन्नज्ञान-क्रियात्मक चैतन्यके स्वरूपका आच्छादन है; और दूसरा महामायाका सम्बन्ध। इन दोनों आवरणोंके निवृत्त होनेपर शुद्ध भगवत्ताकी अभिव्यक्तिका मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टिके आदिमें महामायामें चैतन्यशक्तिका आधान होता है, तब इस शक्तिकी क्रियाके कारण महामाया क्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती हैं। और उनमें सुप्तवत् निहित अणुरूपी सारे जीव भी जाग उठते हैं। निद्रा-कालमें ये सारे जीव विदेह-अवस्थामें महामायामें लीन रहते हैं; परंतु महा-मायाके क्षुब्ध होते ही इनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है। देह-सम्बन्धके विना कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। अतएव महामायाके क्षोभके फलस्वरूप क्षुब्ध महामायासे इन समस्त अणुओंके प्रयोजनके अनुसार देह आदिकी उत्पत्ति और विकास हो जाता है। इसलिये जब वे जाग उठते हैं, तब उनमें कोई भी विदेह नहीं रहता; ये महामायासे उत्पन्न शरीर लेकर ही प्रकट होते हैं।

महामायामें चैतन्यशक्तिका आवेश तथा इन समस्त अणुओंमें चैतन्यशक्तिका सञ्चार एक ही बात है; क्योंकि सारे अणु सुप्त अवस्थामें महामायाके साथ अभिन्न होकर ही रहते हैं।

महामायाके गर्भमें असंख्य अणु विद्यमान रहते हैं। महाप्रलयकी अवस्थामें ये सभी समभावसे लीन रहनेपर भी चैतन्यशक्तिके सम्पातके समय सभी समानरूपसे प्रबुद्ध नहीं होते, और न हो ही सकते हैं। किसी-किसी अणुकी ही जागृति होती है, सबकी नहीं। यद्यपि सभी अणु मलविशिष्ट होते हैं, तथा चैतन्य या भगवदनुग्रहकी आवश्यकता सबको समभावसे होती है, तथापि मलकी परिपक्वता सबकी समान नहीं होती। जिसका मल जितना अधिक परिपक्व होता है, वह उतना ही अधिक परिमाणमें चैतन्यशक्तिकी ओर उन्मुख होता है। मलने अनादिकालसे आत्माके साथ युक्त होकर आत्माको अणुरूपमें परिणत कर रक्खा है। अणुत्व ही पशुत्व है, यह आत्माका स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है। आत्माका स्वाभाविक धर्म तो शिवत्व या पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्तिका अभिन्न और अपरिच्छिन्न स्वरूप है। मल अनादि होनेपर भी आगन्तुक है। इसके द्वारा जब वह स्वरूप आच्छन्न होता है, तब शिवरूपी आत्मा जीव या पशुरूपमें परिणत हो जाता है। यह मल कालशक्तिके द्वारा निरन्तर परिपक्व हो रहा है। सृष्टिकालमें परिपाकके अन्य उपाय न हों, ऐसी बात नहीं है; परंतु प्रलयकालमें वे उपाय काम नहीं करते। परिपक्वताकी एक ऐसी मात्रा है, जिसके प्राप्त होनेपर

ये सारे अणु अपने-आप चैतन्यशक्तिकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। आकाशस्थ सूर्यकी किरणें समुद्रके ऊपर और कुछ तल-प्रदेशपर्यन्त पड़ती हैं; परंतु जो जीव इन किरणोंकी सीमा-रेखापर्यन्त उपस्थित नहीं हो सकते, वे आपाततः इन किरणोंकी क्रियासे मुक्त रहते हैं। दूसरे पक्षमें जिनको इन किरणोंका स्पर्श प्राप्त हो जाता है, वे इनके प्रभावसे जाग उठते हैं, और अपने मल-परिपाककी मात्राके अनुसार विशुद्ध देह लाभ करके शुद्ध जगत्में सञ्चरण करते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपरिपक्व मलसे जीवोंकी सुषुप्ति भङ्ग नहीं होती। साधारणतः कल्पान्तरमें उसके होनेकी सम्भावना रहती है। कहना न होगा कि यहाँ हम परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य-शक्तिके खेलकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं। स्वातन्त्र्य-शक्तिकी दृष्टिसे विचार करनेपर मलकी परिपक्वताके ऊपर चैतन्यशक्तिका सञ्चार निर्भर करता है, यह बात सर्वत्र समानरूपसे सत्य मान लेनेसे काम नहीं चलता। यहाँ तो साधारण नीतिका ही अनुसरण किया गया है। जिन जीवोंके विषयमें आलोक-स्पर्श होनेकी बात कही गयी है, वे सभी पुरातन जीव हैं। वे संसारमें पतित हुए थे तथा प्रत्यावर्तनकी दिशामें मायापर्यन्त तत्त्वभेद करके देहसे वियुक्त होकर महामायाके भीतर केवलीरूपमें विलीन होकर रहते हैं। मायाराज्यका भेद हो जानेपर भी इनकी वासनामुक्ति पूर्णरूपसे नहीं हुई है; क्योंकि मायातीत वासना इस समय भी वर्तमान है। मायिक वासनाको क्षीण करनेके लिये मायिक देह ग्रहण करके मायिक जगत्में कर्म करना पड़ता है। देह ग्रहण किये बिना वासना क्षय नहीं होती। मायातीत वासनाको क्षीण करनेके लिये भी तदनुरूप देह ग्रहण करके तादृश कर्म सम्पादन करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन होती है, परंतु मायातीत वासना विशुद्ध होती है। कर्तृत्व-अभिमानके वश मायिक जगत्में कर्म होता है, और भोक्तृत्व-अभिमानके वश मायिक जगत्में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्मफल-भोगको ही मिलितरूपमें संसार कहते हैं; परंतु मायातीत वासनाके स्थलमें न तो कर्मके मूलमें अहङ्कार रहता है, न भोगके मूलमें। इसीलिये उसे प्रकृत संसार नहीं कहा जा सकता। यदि उसे संसार कहना हो तो 'शुद्ध संसार' कह सकते हैं। यह मायातीत कर्म ही अधिकार है, और मायातीत भोग ही यथार्थ भोग या सम्भोग है। अधिकार और भोगकी अतीतावस्था ही 'लय' है।

यहाँ प्रश्न होता है कि मायातीत वासना विदेह अणुमें किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत देहके द्वारा ही तृप्तिलाभ करती है। मायिक वासनाकी तृप्ति तो मायिक उपादानसे होती है। परंतु मायातीत वासनाकी तृप्ति मायिक उपादानसे कैसे हो? इसके लिये जो मायातीत उपादान आवश्यक होता है, उसका नाम है 'महामाया।' जब चैतन्यशक्ति महामायाको स्पर्श करती है, तब पूर्वोक्त परिपक्वमल सारे जीव जाग उठते हैं, और क्षुब्ध महामायासे रचित देहोंमें अधिष्ठान करके अपने-अपने कार्य-साधनमें प्रवृत्त हो जाते हैं। महामायाका ही दूसरा नाम है कुण्डलिनी शक्ति। पूर्वोक्त परिपक्वमल जीवोंके देहादि कुण्डलिनी शक्तिसे रचित होते हैं; ये सारे जीव तब फिर जीव-पदवाच्य नहीं होते, वे जीव होकर भी ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न होते हैं। परमेश्वरकी करुणादृष्टिरूप चैतन्यशक्तिके सञ्चारकी बात पहले कही जा चुकी है। यह वस्तुतः चित्शक्तिका ही उन्मेष है, जो क्रियाशक्तिके रूपमें होता है।

चित्शक्तिकी सक्रिय और निष्क्रिय दो अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः दो अवस्थाओंके न होनेपर भी कर्मगत भेदकी उपपत्तिके लिये कृत्रिमभावसे दो कही जाती हैं। निष्क्रिय अवस्थामें क्रियाके अभावके कारण शक्तिका सञ्चार नहीं होता। अतएव यह शक्तिसञ्चार वस्तुतः चित्शक्तिमयी क्रियाशक्तिका व्यापार है। इसीका नामान्तर है दीक्षा। परमेश्वर स्वयं ही क्रियाशक्तिके प्रवर्तकरूपमें चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्वोक्त परिपक्वमल जीव सृष्टिके आदिमें इस दीक्षाको प्राप्त होकर महामायासे उद्भूत विशुद्ध देह लाभ-कर परमेश्वरके आदि शिष्यरूपमें शुद्ध जगत् या महामायिक जगत्में स्थिति-लाभ करते हैं। हम जिस मायिक जगत्से परिचित हैं, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि समस्त व्यापारोंका चरम भार इन्हींके ऊपर न्यस्त होता है। ये जीव होते हुए भी ईश्वरकल्प हैं। परंतु नित्यसिद्ध परमेश्वरसे न्यून हैं। क्योंकि इनमें शुद्ध वासना है और परमेश्वरमें वासना नहीं है। समष्टिरूपसे समस्त जगत्की कल्याण-कामना, यही इनकी शुद्ध वासनाका स्वरूप है।

आपाततः ऐसा प्रतीत हो सकता है कि विशुद्ध वासनाके परे जानेपर विशुद्ध भगवद्भावकी प्राप्ति हो सकती है; परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वह विशुद्ध कैवल्य अवस्था है, भगवदवस्था नहीं।

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरकी चैतन्यमयी शक्तिको प्राप्त होकर जो जीव विशुद्ध देह लाभ करते हैं, वे सब समभावापन्न नहीं होते। उनके बीच भी अवान्तर भेद होता है। अवश्य

ही एक प्रकारसे सबको एक स्तरके जीव कहा जा सकता है, क्योंकि उन सबके भीतर चित्-शक्तिका उन्मेष रहता है। सभी शुद्ध विद्या प्राप्तकर शुद्ध राज्यके अधिवासी हो चुके हैं, तथा न्यूनाधिक रूपमें होनेपर भी सभीके भीतर क्रियाशक्ति जाग्रत् हो गयी है; परंतु क्रियाशक्तिके विकासमें तारतम्य होनेके कारण इनमें भी तारतम्य दीख पड़ता है। वस्तुतः शुद्ध जगत्के चेतनवर्गमें जो वैषम्य दीख पड़ता है, उसका मूल हेतु है क्रियाशक्तिकी अभिव्यक्तिका तारतम्य। यह तारतम्य क्यों होता है, इसकी खोज करनेपर जाना जा सकता है कि सारे अणुओंमें मल समानरूपसे परिपक्व नहीं होता। अतएव भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वरकी क्रियाशक्तिको सभी समान रूपसे धारण नहीं कर सकते। मलके उस परिमाणतक पक्व हुए बिना वह चित्-शक्तिका स्पर्श सहन नहीं कर सकता। वह शुद्ध राज्यमें सभीको प्राप्त होता है, यह सत्य है; परंतु इस परिपक्वतामें तारतम्य होता है और उसीके अनुसार, जहाँ परिपक्वता अधिक होती है, वहाँ क्रियाशक्तिका आवेश अधिक मात्रामें होता है। मलके परिपक्व न होनेपर क्रियाशक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसी कारण अपक्व मलकी अवस्थामें क्रियाशक्तिका सञ्चार बिल्कुल ही नहीं होता। अतएव मलपाक न होनेपर श्रीगुरु कभी जीवपर अनुग्रह नहीं करते।

समस्त पक्वमल अणुओंमें, जिनका मल सर्वापेक्षा अधिक परिपक्व होता है, क्रियाशक्तिका आवेश होनेपर उनमें कर्तृभावका उदय होता है। कहना न होगा कि यह कर्तृत्व शुद्ध होता है, इसमें अहङ्कारका सम्बन्ध नहीं होता। इनके नीचे बहुसंख्यक पक्वमल अणु उपर्युक्त प्रणालीसे भगवत्-शक्तिको प्राप्त होते हैं, और चैतन्यलाभ करते हैं। इनकी क्रियाशक्तिकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है, अतएव इनमें कर्तृभावका उन्मेष न होकर करणभावका उन्मेष होता है। जिनमें कुछ अणुओंमें कर्तृभावका उन्मेष होता है, वे एक प्रकारसे सजातीय होते हैं तथापि उनमें भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। उसी प्रकार करणशक्तिमय समष्टिमें भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृभावापन्न हैं, वे ईश्वर-तत्त्वको आश्रय करके रहते हैं तथा जो करणभावापन्न हैं, उनका अवलम्बन शुद्ध विद्यातत्त्व है। यह विद्या मायातीत ज्ञानस्वरूपा है। जो कुछ लोग ईश्वर-तत्त्वमें अवस्थान करते हैं, वे ईश्वर अथवा गुरु हैं; और जो विद्यातत्त्वके आश्रय रहते हैं, वे मन्त्र अथवा देवता हैं। ये समस्त मन्त्र ईश्वर या गुरुके अधीन हैं। ये गुरुके द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीवोंके उद्धारका कार्य करते रहते हैं। ये स्वतः प्रेरित होकर जीवोद्धारमें लगे नहीं रह सकते; क्योंकि ये करण हैं, कर्ता नहीं हैं।

गुरु और देवता दोनों ही शुद्धदेहसम्पन्न होते हैं। परमेश्वरके अनुग्रहकी प्राप्तिसे दोनोंमें निज स्वरूपज्ञान जाग चुका है। अपने शिवत्व-बोधरूपी ज्ञानका उदय दोनों क्षेत्रोंमें ही समभावसे हो चुका है। परंतु गुरु कर्तृभावसे तथा देवता करणभावसे कार्य करते हैं। इसके सिवा दूसरी ओरसे भी दोनोंमें कुछ पार्थक्य है। यद्यपि परमेश्वरकी अनुग्रहशक्ति दोनोंमें पड़ती है, तथापि व्यक्तिगत विकासकी दृष्टिसे इनमें तारतम्य रहता है। जो आत्मा तत्त्व-भेदके क्रमसे ऊर्ध्वगतिके फलस्वरूप मायाको अतिक्रम करनेमें समर्थ हो चुके हैं, वे मलपाकके कारण भगवत्कृपाको प्राप्तकर देवतापदपर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम मन्त्र है। इतना आत्मिक विकास हुए बिना यथार्थ देवत्व प्राप्त नहीं होता। यहाँ मायाके अन्तर्गत रहनेवाले देवताओंको हम नहीं कह रहे हैं। मायातीत देवताका एकमात्र शुद्ध देह ही रहता है, अशुद्ध देह नहीं रहता। परंतु गुरुकी अवस्था और ही है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है तो उससे उसमें चैतन्यशक्तिका अवतरण अवश्यम्भावी है। तथा मलपाककी तीव्रताके कारण कर्तृभावका आवेश स्वाभाविक है। ये सब अणुदीक्षाको प्राप्त होकर आचार्य-अधिकार लाभ करते हैं। तत्त्व-भेदके क्रमसे इनका जितना ही आत्मिक विकास हो, उतना ही यथेष्ट है। जो जिस तत्त्वमें अवस्थित है, गुरुपदपर अधिरूढ़ होनेपर भी उसका मायिक देह उसी तत्त्वका हो जाता है। परंतु भगवान्के अनुग्रहसे जिस विशुद्ध देह या वैन्दव देहकी प्राप्ति होती है, वह गुरुपदवाच्य सभी आत्माओंके लिये एक ही प्रकारका होता है। जबतक मायातत्त्वका भेद नहीं होता, तबतक गुरुमात्रके दो शरीर होते हैं। उनमें एक गुरुप्रदत्त शुद्ध देह है, जो महामाया या कुण्डलिनीके उपादानसे गठित होता है, तथा दूसरा अपना-अपना मायिक शरीर है। यह दूसरा शरीर जीवके क्रम-विकासकी मात्राके अनुसार किसी-न-किसी तत्त्वमें आश्रित रहता है; अर्थात् किसीका मायिक स्थूल देह पार्थिव, किसीका जलीय, किसीका तैजस इत्यादि होता है। देहके विकाससे अभिप्राय है देहके उपादानको निम्नवर्ती तत्त्वसे ऊर्ध्व तत्त्वमें परिणत करना। कार्यकी गति कारणकी ओर होती है, और कारणकी गति उसके स्वकारणकी ओर। इस प्रकार पार्थिवदेह जलीय, तथा जलीयदेह तैजसमें परिणत हो सकता है; यही देहका उपादानगत उत्कर्ष है। भगवान्के अनुग्रहकी प्राप्ति इस तत्त्व-भेदरूपी उत्कर्षपर निर्भर नहीं करती। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रम-विकासका फल है। चैतन्यशक्तिका अवतरण एकमात्र मलकी परिपक्वताके ऊपर निर्भर करता है। इसी कारण कोई तो पृथ्वी-तत्त्व-भेद किये बिना

भी भगवद्-अनुग्रहको प्राप्त हो जाते हैं, और कोई माया-तत्त्वको अतिक्रम करके भी उसे प्राप्त नहीं होते। तत्त्व-भेदके ऊपर शक्तिका अवतरण निर्भर नहीं करता। परंतु यह निश्चित है कि अणु मायातत्त्वको भेद करनेपर भी जबतक मल-पाक-करण भावकी अभिव्यक्तिके लिये उपयोगी नहीं होता, तबतक उसके ऊपर भगवान्‌की अनुग्रहशक्ति सञ्चारित नहीं होती। इन अणुओंको कल्पान्तरके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि देवदेहकी रचना सृष्टि-समयमें नहीं होती, सृष्टिके प्राक्-कालमें होती है। यदि मायाभेद न हो तो कोई बात ही नहीं है; क्योंकि जबतक मायाभेद नहीं हो जाता, तबतक किसी भी आत्मामें मलपाकके कारण भगवान्‌का शक्तिपात होनेपर भी देवत्वका आविर्भाव सम्भव नहीं। मायाके भेदके बाद जो आत्मा मलपाकके फलस्वरूप भगवद्-अनुग्रह लाभकी योग्यता प्राप्त करते हैं, उनके ऊपर कल्पान्तरमें शक्ति-अवतरण होता है। वर्तमान कल्पमें ये सब आत्मा महामायामें लीन रहते हैं।

अतएव यह निश्चित है कि किसी विशिष्ट कल्पका आत्मा अणुरूप मलपाकके होनेपर भी उस कल्पमें देवत्व प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँतक कि मायाभेद हो जानेपर भी यह सम्भव नहीं होता। उसे महामायामें दूसरे कल्पके आरम्भतक विश्राम करना पड़ता है। परंतु पहले कहा जा चुका है कि गुरुके सम्बन्धमें इस प्रकारका नियम नहीं है। गुरुमें शक्तिके अवतरणकी प्रधानता होती है। अर्थात् जितना मलपाक होनेपर कर्तृभावका आवेश दीक्षाकालमें सम्भव होता है, उतना होगा ही। मायाभेद न करनेपर भी क्षति नहीं होती। यहाँतक कि किसी निम्नवर्ती तत्त्वमें अवस्थान करनेपर भी क्षति नहीं होती। क्योंकि गुरुभावकी अभिव्यक्तिमें जीवकी स्वकृत ऊर्ध्वगतिकी मात्राका निर्देश आवश्यक नहीं होता। ठीक-ठीक मल परिपक्व होनेपर, स्वीय विकासके फलस्वरूप जो जहाँ है, वहाँसे ही भगवदनुग्रह लाभ करके शुद्ध देह तथा आचार्यका अधिकार प्राप्त कर सकता है। परंतु यदि उसका मायातत्त्व भेद हो जाता है तो उसको नये जन्मके प्रारम्भतक अपेक्षा करनी पड़ती है।

यह सर्वत्र ही सत्य है कि देवता गुरुके अधीन हैं। देवता स्वभावतः महामायाके राज्यके अधिवासी हैं; परंतु गुरु महामायाके राज्यके अधिवासी होकर भी, एक ही साथ मायाराज्यके भी अधिवासी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ सृष्टिकालीन गुरुकी बात कही जा रही है, जिनके माया और शुद्ध दोनों देह होते हैं। सृष्टिके अतीत गुरुकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है—वे मायादेहरहित तथा विशुद्ध वैन्दव-देह-सम्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त विवरणमें तत्त्वभेदपूर्वक ऊर्ध्वगतिकी बात कही गयी है। इसकी थोड़ी-सी भलीभाँति आलोचना किये बिना यह बात समझमें नहीं आयेगी। अतएव संक्षेपमें कुछ कहा जा रहा है। सृष्टिके पूर्व सृष्टिकी मूल उपादानस्वरूप एक वस्तु रहती है। आपाततः उसे जड कहा जा सकता है। इसकी एक दिशा (भीतरी) शुद्ध होती है। और दूसरी (बाहरी) अशुद्ध होती है। जबतक सृष्टिका उदय नहीं होता, तबतक यह आन्तर-बाह्य विभाग समझमें नहीं आ सकता। यहाँतक कि यह अचित्स्वरूप मूल उपादान भी समझमें नहीं आ सकता। परंतु जब सृष्टिके पूर्वमें परमेश्वरकी दृष्टि शुद्धांशपर पड़ती है, तब वह ज्योतिरूपमें उज्ज्वल होकर चमक उठता है। शुद्धके बाहर जो अशुद्ध अंश है, वह छाया या अन्धकारके रूपमें इस ज्योतिःस्वरूपको घेर लेता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है, और वह बाहरकी छाया माया है। सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि इन दोनोंमें एक ही अचित् सत्ता है। यह शुद्ध होकर स्तर-स्तरमें तत्त्वरूपसे अभिव्यक्त होती है। परंतु ये तत्त्व अचित्‌के मूल विभाग नहीं हैं। अचित्‌का मूल विभाग है पञ्चकला। इनमें दो कलाएँ शुद्धांशमें और तीन कलाएँ अशुद्धांशमें हैं। प्रत्येक कला अवान्तर भावसे तत्त्वके रूपमें अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्यमें पाँच तत्त्व एवं माया वा छाया-राज्यमें इकतीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। पञ्चकलाएँ एक दूसरीके बाद अधिकतः बहिर्मुख होती हैं। उसी प्रकार इनसे अभिव्यक्त तत्त्व भी इन्हींके समान ही एकके बाद दूसरे अधिकतर बहिर्मुख होते हैं। जहाँ बहिर्मुखताकी पराकाष्ठा है, उसीका नाम पृथ्वी है। इसी प्रकार जहाँ अन्तर्मुखताकी चरम सीमा है, उसका नाम शिव या महामाया है। वस्तुतः वही कुण्डलिनीस्वरूपा हैं। यह शिव, शिवनामसे परिचित होनेपर भी, वस्तुतः विशुद्ध जडवस्तु है। इसीका नाम आदितत्त्व या बिन्दु है। तत्त्वातीत शिव या परमेश्वर इससे पृथक् हैं।

ये तत्त्व स्तर-स्तरमें सुसज्जित हैं। विश्वमें सर्वत्र यह क्रम-विन्यास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक तत्त्वसे अनेकों भुवनोंका आविर्भाव होता है। भुवन तत्त्वोंकी भाँति गुण, क्रिया, शक्ति प्रभृतिके विकासके तारतम्यके अनुसार ऊपर-नीचे परस्पर शृङ्खलाबद्ध रहते हैं। ऊर्ध्व प्रदेशसे सर्वापेक्षा

निम्नतम प्रदेशपर्यन्त इन भुवनोंकी समष्टि ही जीवके लिये विश्वके नामसे परिचित है। जीव अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार प्रत्येक स्तरमें विद्यमान है। जीव सृष्टिकालमें अर्थात् विश्वमें अवस्थानके समय देहयुक्त ही रहता है; परंतु प्रलय-अवस्थामें जीवके देह नहीं रहता। उस समय जीव साक्षात् या परम्परारूपसे मायामें लीन होकर सुषुप्तवत् स्थित रहता है; अथवा यदि किसी कौशलसे किसीका मायाभेद हो जाता है तो वह महामायामें सुषुप्तवत् लीन रहता है। मायामें जो इकतीस तत्त्व हैं, उनमें प्रत्येकका आश्रय लेकर जीव रहता है और रह सकता है। इन सब तत्त्वोंमें जन्य-जनकभाव अथवा अधः-ऊर्ध्व विभाग है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। तदनुसार तत्त्ववर्ती जीवसमूहके भी श्रेणी-विभाग होते हैं; परंतु ये श्रेणी-विभाग तत्त्वके आपेक्षिक उत्कर्षमूलक होते हैं। उससे जीवके स्वकीय उत्कर्षका परिचय नहीं मिलता। प्रलय जडकी क्रियाकी अपेक्षा रखता है, वह जीवकी साधनाके अधीन नहीं है। जब उपादानमें बहिर्मुखी प्रेरणा आती है, तब सृष्टिकी ओर प्रवृत्ति होती है। पक्षान्तरमें, जब उपादानमें सङ्कोच भाव आता है, तब यह प्रवृत्ति निवृत्त होकर केन्द्रकी ओर आकर्षण बढ़ने लगता है, और चरम अवस्थामें मूल उपादानरूपमें केन्द्रमें स्थिति हो जाती है।

अभिव्यक्तिके नियमानुसार जो जीव इस मूल-उपादानका अतिक्रम करके महामायामें अवस्थान करते हैं, उनमें कोई-कोई मलपाकके तारतम्यसे नवीन सृष्टिमें देव-भावमें आविर्भूत होते हैं। इनके देह वैन्दव देह होते हैं। ये स्वभावतः मायातीत होते हैं। इसीसे वे शुद्ध होनेपर भी क्रम-विकास-नियमके अधीन नहीं होते। वे एक प्रकारसे अव्यक्त भावापन्न होते हैं। कहना न होगा कि ये दोनों बातें मायाके अतीत भूमिकी हैं।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। इनका रहस्य समझमें आ जानेपर शास्त्रवर्णित आजान देवता, कर्मदेवता प्रभृति विभिन्न देवता-तत्त्व हृदयङ्गम हो जायगा।

श्रीभगवान्‌की भक्ताधीनता

महर्षि दुर्वासाको भगवान् विष्णु कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भागवत ९।४।६३ से ६८)

ब्रह्मन्! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें स्वतन्त्रता नहींके बराबर है। मेरे साधु भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर लिया है। मैं भक्तोंका प्रिय हूँ और भक्त मुझे प्रिय हैं।

विप्रवर! जिनका मैं ही एकमात्र परम आश्रय हूँ, उन साधु-स्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी हृदयङ्गमा अविनाशिनी लक्ष्मीको।

जो भक्तजन अपने स्त्री-पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आये हैं, उनको छोड़नेका विचार भी मैं कैसे कर सकता हूँ।

जैसे साध्वी स्त्रियाँ अपने सद्व्यवहारसे सदाचारी पतिको वशमें किये रहती हैं, वैसे ही समदर्शी साधु भक्त अपने हृदयको मुझमें बाँधकर मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।

मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य और सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे मेरी सेवाके सुखसे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हुए उन मुक्तियोंको भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है।

मेरे प्रेमी साधु भक्त मेरे हृदय हैं, और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ; वे मेरे सिवा और कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता।

सत्सङ्ग और कुसङ्ग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महापुरुषोंकी महिमा और उनके सङ्गका फल

जिस प्रकार भगवान्‌के महान् आदर्श चरित्र और गुणोंकी महिमा अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्त संत महापुरुषोंके पवित्रतम चरित्र और गुणोंकी महिमाका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे महापुरुषोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, स्वार्थत्याग और सौहार्द आदि पावन गुण अतिशयरूपमें होते हैं; इसीसे ऐसे पुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

ठीक यही भाव श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१। १८। १३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके एक निमेषके सत्सङ्गके साथ स्वर्ग-मोक्ष किसीकी भी तुलना नहीं होती—यह बात उन्हीं लोगोंकी समझमें आ सकती है, जो श्रद्धा तथा प्रेमके साथ नित्य सत्सङ्ग करते हैं।

प्रथम तो संसारमें ऐसे महापुरुष हैं ही बहुत कम। फिर उनका मिलना बहुत दुर्लभ है और मिल जायँ तो पहचानना अत्यन्त कठिन है। तथापि यदि ऐसे महापुरुषोंका किसी प्रकार मिलना हो जाय तो उससे अपने-अपने भावके अनुसार लाभ अवश्य होता है; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है। श्रीनारदजीने भक्तिसूत्रोंमें कहा है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

'महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।' अपने-अपने भावके अनुसार लाभ कैसे होता है, इसपर एक दृष्टान्त है—

दो ब्राह्मण किसी जंगलके मार्गसे जा रहे थे। दोनों अग्निहोत्री थे। एक सकामभावसे अग्निकी उपासना करनेवाला था, दूसरा निष्कामभावसे। रास्तेमें बड़े जोरकी आँधी और वर्षा आ गयी। थोड़ी ही दूरपर एक धर्मशाला थी। वे दोनों किसी तरह धर्मशालामें पहुँचे। अँधेरी रात्रि थी और जाड़ेके दिन थे। धर्मशालामें दूसरे लोग भी ठहरे हुए थे और वे सभी प्रायः सर्दीसे ठिठुर रहे थे। धर्मशालामें और सब चीजें थीं, पर अग्निका कहीं पता नहीं लगता था। न किसीके पास दियासलाई ही थी। उन दोनों ब्राह्मणोंने जाकर अग्निकी खोज आरम्भ की। उन्हें एक जगह एक कमरेके आस-पास बैठे हुए लोगोंने बतलाया कि हमें तो जाड़ा नहीं लग रहा है, पता नहीं कहाँसे किस चीजकी गरमी आ रही है। उन लोगोंने उस कमरेको खोलकर देखा तो पता लगा कि उसमें राखसे ढकी आग है। इसी आगकी गरमीसे वह कमरा गरम था, शेष सारी धर्मशालामें सर्दी छायी थी। जब आगका पता लग गया तो सब लोग प्रसन्न हो गये। पहलेसे ठहरे हुए जिन लोगोंको अग्निमें श्रद्धा नहीं थी और जो केवल अग्निसे रोशनी और रसोईकी ही अपेक्षा रखते थे, उन्होंने उससे रोशनी की और रसोई बनायी। दोनों अग्निहोत्री ब्राह्मणोंने, जिनको अग्निके ज्ञानके साथ ही उसमें श्रद्धा थी, रोशनी तथा रसोईका लाभ तो

उठाया ही, पर साथ ही अग्निहोत्र भी किया। इनमें जो सकाम भाववाला था, उसने सकामभावसे अग्निहोत्र करके लौकिक कामना-सिद्धिरूप सिद्धि प्राप्त की और जो निष्काम भाववाला था, उसने अपने निष्कामभावसे अग्निहोत्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिका परम लाभ उठाया। इस प्रकार जिनको अग्निका ज्ञान भी नहीं था, उन्होंने भी अग्निके स्वभाववश उसके निकट रहनेके कारण गरमी प्राप्त की; जिन्हें ज्ञान था पर श्रद्धा नहीं थी, उन लोगोंने केवल रोशनी-रसोईका लाभ उठाया। ज्ञान, श्रद्धाके साथ सकाम भावसे अग्निहोत्र करनेवालेने सकाम सिद्धि पायी और निष्कामी पुरुषने परमात्माको प्राप्त किया। इसी प्रकार किसी महापुरुषका यदि सङ्ग हो जाय और पहचाना भी न जाय तो भी उनके स्वाभाविक तेजसे पापरूपी ठण्डक तो शान्त होती ही है। जो लोग महात्माको किसी अंशमें ही जानते हैं और उससे साधारण क्षणिक लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें साधारण क्षणिक लाभ मिल जाता है। जिनमें श्रद्धा है पर साथ ही सकाम भाव है, वे उनका सङ्ग करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप वैषयिक लाभ प्राप्त करते हैं और जो उन्हें भलीभाँति पहचानकर श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे उनका सङ्ग करते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार महात्माके अमोघ सङ्गसे लाभ सभीको होता है, पर होता है अपनी-अपनी भावनाके अनुसार।

महात्मा पुरुषोंके भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि मायिक होते हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके प्रभावसे वे साधारण मनुष्योंकी अपेक्षासे विलक्षण और दिव्य हो जाते हैं, अतएव उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे तो लाभ होता ही है, मनके द्वारा उनका स्मरण हो जानेसे भी बड़ा लाभ होता है। जब एक कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे कामी पुरुषके हृदयमें कामका प्रादुर्भाव हो जाता है, तब भगवत्प्राप्त महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे साधकके हृदयमें तो भगवद्भाव और ज्ञानका प्रादुर्भाव अवश्य होना ही चाहिये।

ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें दिव्य गुणोंका अपार-शक्ति-सम्पन्न समूह भरा रहता है, जिसके दिव्य बलशाली परमाणु नेत्रमार्गसे निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और दूर-दूरतक जाकर जड-चेतन सभीपर अपना प्रभाव विस्तार करते रहते हैं। मनुष्योंपर तो उनके अपने-अपने भावानुसार न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव पड़ता ही है, विविध पशु-पक्षियों तथा जड आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वृक्ष, पाषाण, काष्ठ, घास आदि पदार्थोंतकपर भी असर पड़ता है। उनमें भी भगवद्भावके पवित्र परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महात्मा जिस पशु-पक्षीको देख लेते हैं, जिस वायुमण्डलमें रहते हैं, जो वायु उनके शरीरको स्पर्श करके जाता है, जिस अग्निसे वे अग्निहोत्र करते, रसोई बनाते या तापते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान-पान करते हैं, जिस भूमिपर निवास करते हैं, जिस वृक्षका किसी प्रकार उपयोग करते हैं, जिस पाषाणखण्डको स्पर्श कर लेते हैं, जिस चौकीपर बैठ जाते हैं और जिन तृणाङ्कुरोंपर अपने पैर रख देते हैं, उन सभीमें भगवद्भाव-के परमाणु न्यूनाधिकरूपमें स्थित हो जाते हैं, और उन वस्तुओंको जो काममें लाते हैं या जिन-जिनको उनका संसर्ग प्राप्त होता है—उन लोगोंको भी विना जाने-पहचाने भी सद्भावकी प्राप्तिमें लाभ होता है। जिनमें श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रेम होता है, उनको यथापात्र विशेष लाभ होता है।

ऐसे महात्माओंकी वाणीसे भी उनके हृद्गत भावोंका विकास होता है; इससे उसे सुननेवालोंपर तो यथाधिकार—जो जैसा पात्र होता है तदनुसार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी—शब्द नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्के प्राणियोंका सदा सहज ही मङ्गल किया करती है। जहाँ

उनकी वाणीका प्रथम प्रादुर्भाव होता है, वह स्थान और वहाँका वायुमण्डल विशेष प्रभावोत्पादक बन जाता है । इसी प्रकार उनके शरीरका स्पर्श होनेसे भी लाभ होता है । भावोंके परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इससे उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती; पर वे वैसे ही अनिवार्यरूपसे सद्भावका प्रसार करते हैं, जैसे स्थूल दृष्टिसे न दीखनेवाले प्लेगके कीटाणु रोगका विस्तार करते हैं ।

ऐसे महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया सर्वोत्तम दिव्य चरित्र, गुण और भावोंसे ओतप्रोत रहती है; अतएव उनके चिन्तनमात्रसे—स्मृतिमात्रसे उनके चरित्र, गुण और भावोंका प्रभाव दूसरोंके हृदयपर पड़ता है। नामकी स्मृति आते ही नामीके स्वरूपका स्मरण होता है । स्वरूपके स्मरणसे क्रमशः चरित्र, गुण और भावोंकी स्मृति हो जाती है, जो हृदयको उन्हीं भावोंसे भरकर पवित्र बना देती है । वस्तुतः महापुरुषका मानसिक सङ्ग बहुत लाभदायक होता है, फिर चाहे महात्मा किसी साधकका स्मरण कर ले या साधक किसी महात्माका स्मरण कर ले । अग्नि घासपर पड़ जाय या घास अग्निमें पड़ जाय, अग्निका संसर्ग उसके घासस्वरूपको मिटाकर उसे तुरंत अग्नि बना देगा । इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे परिपूर्ण महात्माके सङ्गसे साधकके दुर्गुण और दुराचारोंका तथा अज्ञानका नाश हो जाता है, फिर चाहे वह संसर्ग महात्माके द्वारा हो या साधकके द्वारा । महात्मा स्वयं आकर दर्शन दें, तब तो वह प्रत्यक्ष ही केवल श्रीभगवान्‌की अपार कृपाका ही फल है। परंतु यदि साधक अपने प्रयत्नसे महात्मासे मिले, तो इससे साधकके अन्तःकरणमें शुभ संस्कार अवश्य सिद्ध होते हैं; क्योंकि शुभ संस्कार हुए बिना महात्मासे मिलनेकी इच्छा और चेष्टा ही क्यों होने लगी, तथापि इसमें भी प्रधान कारण भगवान्‌की कृपा ही है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।'

इस संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, सब केवल दोके ही सम्बन्धसे बने हुए हैं—(१) श्रीभगवान्‌के किसी भी स्वरूप या अवतारके प्राकट्य, निवास, लीलाचरित्रादिके होनेसे और (२) महापुरुषोंके निवास, तप, साधन-प्रवचन या समाधि आदिके होनेसे । देशगत अच्छे परमाणुओंका परिणाम प्रत्यक्ष है । आज भी जो लोग घर छोड़कर पवित्र तीर्थ या तपोभूमियोंमें निवास करते हैं, उनको अपनी-अपनी श्रद्धा तथा भावके अनुसार विशेष लाभ होता ही है । इसका कारण यही है कि उक्त भूमि, जल तथा वातावरणमें महात्माओंके तपस्या, भक्ति, सदाचार, सद्गुण, सद्भाव, ज्ञान आदिके शक्तिशाली परमाणु व्याप्त हैं ।

विशेष और शीघ्र लाभ तो वे साधक प्राप्त करते हैं, जो महापुरुषोंकी इच्छाका अनुसरण, आचरणोंका अनुकरण और आज्ञाका पालन करते हैं । जो भाग्यवान् पुरुष महापुरुषोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा न करके सारे कार्य उनकी रुचि तथा भावोंके अनुकूल करते हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये । यों तो श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण साधारण लोग किया ही करते हैं । इसीलिये श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

पर जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक महापुरुषोंके चरित्रका अनुकरण और उनके द्वारा निर्णीत मार्गका अनुसरण करते हैं, वे विशेष लाभ प्राप्त करते हैं ।

इसी प्रकार भगवान् और महात्माओंके चरित्र, उपदेश, ज्ञान, महत्त्व, तत्त्व, रहस्य आदिकी बातें जिन ग्रन्थोंमें लिखित हैं, महात्माओंके और भगवान्‌के चित्र जिन

दीवालों तथा कागजोंपर अङ्कित हैं, यहाँतक कि महात्माओंकी और भगवान्‌की स्मृति दिलानेवाली जो-जो वस्तुएँ हैं—उन सबका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है तथा श्रद्धा-विश्वासके अनुसार सभीको लाभ पहुँचानेवाला है। जिस प्रकार स्वाभाविक ही मध्याह्नकालके सूर्यसे प्रखर प्रकाश, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे अमृत एवं अग्निसे उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे स्वाभाविक ही ज्ञानका प्रकाश, शान्तिकी सुधा-धारा और साधनमें तीक्ष्णता और उत्तेजना प्राप्त होती है।

इसलिये सभीको चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको नित्य-निरन्तर महापुरुषोंके सङ्गमें और उन्हीं विषयोंमें लगाये, जो भगवान् तथा महापुरुषोंके संसर्ग या सम्बन्धसे भगवद्भावसम्पन्न हो चुके हों। ऐसा करनेपर उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा सत्सङ्ग ही मिलता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन श्रीभगवान् और सच्चे महापुरुषोंके सम्बन्धमें है। ऐसे महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। इस सिद्धान्तका दुरुपयोग करके जो दुराचारीलोग शास्त्रों तथा भगवान्‌का खण्डन करते हुए दम्भपूर्वक स्वयं अपनेको भगवान् या महापुरुष बतलाकर अपने कल्पित मिथ्या नामका जप-कीर्तन करवाते, अपने नश्वर शरीरको पुजवाते, अपने चित्रका ध्यान करवाते और इस प्रकार जनताको धोखा देकर स्वार्थ-साधन करते हैं, वे वस्तुतः बड़ा पाप करते हैं। ऐसे लोगोंको महापुरुष मानना बड़े-से-बड़े धोखेमें पड़ना है तथा ऐसे लोगोंका सङ्ग करना बड़े-से-बड़ा कुसङ्ग है।

असलमें यह एक सिद्धान्त है कि जिस प्रकारके भाववाले पुरुषका संसर्ग जिस मात्रामें चेतनाचेतन पदार्थोंको प्राप्त होता है, उसी प्रकारके भावोंका उसी अनुपातमें न्यूनाधिकरूपसे उनमें प्रवेश होता है। और यह प्रवेश जैसे महात्माओंके भावोंका होता है, वैसे ही दुरात्माओंके भावोंका भी होता है। महात्माओंके भावोंका जैसे सच्चे श्रद्धालु व्यक्तियोंपर तथा सात्त्विक पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है, वैसे ही दुराचारियोंके भावोंका दुराचारपरायण व्यक्तियों एवं राजस-तामस पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसीलिये अब यहाँ कुसङ्गके फलपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

दुराचारी पुरुष और दुराचारियोंके कुसङ्गका फल

जिस प्रकार सत्सङ्गसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार कुसङ्गसे बुरा प्रभाव पड़ता है। भगवद्भावसे रहित नास्तिक, विषयी, पामर और दुराचारी व्यक्तियों-का सङ्ग तो प्रत्यक्ष हानिकारक और पतन करनेवाला है ही; इनके संसर्गमें आये हुए मनुष्य, पशु-पक्षी और जड पदार्थोंका संसर्ग भी हानिकारक है। जो लोग गंदे नाटक-सिनेमा देखते हैं, रेडियोके श्रृङ्गारपरक गंदे गाने तथा वार्तालाप सुनते हैं, घरोंमें ग्रामोफोनादि-पर गंदे रेकार्ड चढ़ाकर सुनते-सुनाते हैं, व्यभिचारियों और अनाचारियोंके मुहल्लोंमें रहते हैं, और उन लोगोंके संसर्गमें आये हुए पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनपर भी बुरा असर होता है। और जो लोग मोह या स्वार्थवश ऐसे लोगोंका सेवन, सङ्ग तथा अनुकरण करते हैं, उनका तो—इच्छा न होनेपर भी—शीघ्र पतन हो जाता है। सङ्गका रंग चढ़े बिना नहीं रहता। एक आदमी जूआ खेलना बुरा समझता है, चोरी-डकैतीको पाप मानता है, शराबसे दूर रहना चाहता है, अनाचार-व्यभिचारकी बात भी नहीं सुनना चाहता, वह भी यदि ऐसे लोगोंके गिरोहमें किसी भी कारणसे सम्मिलित होने लगता है और यदि उसे अनिष्टकर मानकर शीघ्र ही छोड़ नहीं देता तो कुछ ही समयमें उस सङ्गदोषके कारण पहले उन कुकर्मोंसे उसकी घृणा कम होती है, फिर घृणाका नाश होता है, तदनन्तर उनमें प्रवृत्ति होने लगती है और अन्तमें वह भी प्रायः वैसा ही बन जाता है। इसके अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं।

कामीके सङ्गसे कामका, क्रोधीके सङ्गसे क्रोधका और लोभीके सङ्गसे लोभका प्रकट होना, बढ़ना और तदनुसार क्रिया करवा देना स्वाभाविक होता है। काम-क्रोध-लोभ जिनमें उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं,

उनका पतन अवश्यम्भावी है । भगवान्‌ने इनको नरकका द्वार और आत्माका पतन करनेवाला बतलाया है (गीता १६ । २१)। सङ्गदोषसे चरित्र बिगड़ जाता है, खान-पान भ्रष्ट हो जाता है और मनमें तथा आचरणोंमें नाना प्रकारके दोष आकर दृढ़ताके साथ अपना डेरा जमा लेते हैं । इसीलिये शास्त्रोंने अमुक-अमुक स्थितियों-के तथा अमुक-अमुक कार्य करनेवाले लोगोंके संसर्गसे बचनेकी आज्ञा दी है, यहाँतक कि उन्हें स्पर्श करनेतकका निषेध किया है । इनमें प्रसूतिका और रजस्वलावस्थामें पूजनीया माता, प्रियतमा पत्नी तथा अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्रीतकके स्पर्शका निषेध किया है । आज भी विशेषज्ञ डाक्टर आदि किसी संक्रामक रोगसे पीड़ित रोगीको छूकर हाथ धोते हैं और किसी अंशमें इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं । यह वैज्ञानिक तत्त्व है । हमारे परम विज्ञ ऋषि-मुनि दीर्घदृष्टि और सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न थे । प्रत्येक वस्तुके परिणामको जानते थे, इसीसे उन्होंने स्पर्शास्पर्शकी विधिका निर्दोष निर्माण किया था । यह केवल सङ्गदोषसे बचनेके लिये था, न कि किसी जाति या व्यक्तिविशेषसे घृणा करनेके लिये ।

दुराचारी नर-नारियोंके सङ्गका तो बुरा असर होता ही है, पशु-पक्षियोंकी कुत्सित क्रिया, चित्रलिखे कुत्सित दृश्य, समाचारपत्रोंमें प्रकाशित नारियों आदिके चित्र, किसीके अश्लील और घृणित वर्ताव और क्रियाओंका वर्णन देखने, सुनने और पढ़नेसे भी चित्तमें असद्भावोंकी जागृति हो जाती है । इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको सब प्रकारके कुसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये । श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

नरकमें रहकर वहाँकी यन्त्रणा भोगना अच्छा, पर विधाता कहीं बुरा सङ्ग न दे । क्षणभरका बुरा सङ्ग भी गिरानेवाला होता है ।

काम या प्रेम

बहुत बार हम प्रेमके नामपर कामकी उपासना करते हैं । हमें मलिन काम नचाता रहता है और हम भ्रमवश प्रेमकी निर्मल वेदीपर आत्मोत्सर्ग करनेका दम भरते हैं, जगत्के सामने एक परमोज्ज्वल आदर्श स्थापित कर जानेका स्वप्न देखते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि केवल अपने-आप ही नहीं गिरते, अपने तथा कल्पित प्रेमास्पदको भी अन्धकारमें घसीट ले जाते हैं । साथ ही इससे जगत्में इतने दूषित परमाणु फैल जाते हैं कि वैसे सजातीय मनवाले व्यक्तियोंके भी सुप्त संस्कार जग उठते हैं, उन्हें भी हमारा अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति होने लगती है । इस प्रकार प्रेमका निर्मल नाम तो कलङ्कित होता ही है, समाजको, राष्ट्रको, विश्वको, इनमें हमारा जहाँ जैसा जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके अनुपातसे छिन्न-भिन्न कर देनेमें, इनके लिये अशान्ति, दुःख, विपत्तिका जाल रच देनेमें हम निमित्त बन जाते हैं । और यह स्थिति बड़ी दयनीय होती है । अतः प्रारम्भसे ही हमें सावधान होकर बढ़ना चाहिये । हम आत्म-निरीक्षण करते रहें—कामके चंगुलमें हैं या प्रेमका निर्मल आकर्षण हमें आकर्षित कर रहा है ?

यह बात ध्रुव सत्यरूपमें स्वीकार कर लें कि हम एवं हमारे प्रेमास्पद—इन दोनोंके बीचमें यदि भगवान्‌के लिये स्थान नहीं है, हमारा एवं हमारे किसी भी प्रेमास्पदका पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुकी भावनासे शून्य है, तो चाहे ऊपरी ठाट-बाट, बाहरका ढंग कितना भी सुन्दर, सुव्यवस्थित, पवित्र क्यों न प्रतीत हो, है वह वास्तवमें कामका ही पसारा । ऐन्द्रिय विषयोंसे पूर्ण, कलुषित मनके द्वारा यथेच्छ स्थापित किये हुए सम्बन्धमें काम भरा हो—इसमें तो कहना ही क्या, जो सम्बन्ध सर्वथा वैधरीतिसे स्थापित हुए हैं, जिनमें कहीं भी, तनिक भी, मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं हुआ है, उन सम्बन्धोंमें भी प्रेमका भ्रम होता है, और वहाँ रहता है काम । भारतके सूक्ष्मदर्शियों (Occultists) को इसका पूरा पता था । वे इसका विश्लेषण कर गये हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ५ । ६)

'यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है। पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं।'

यह पढ़-सुनकर एक बार तो ऐसा लगेगा कि यह कैसे हो सकता है ? क्या हमारे सभी पारिवारिक, कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रेमशून्य हैं ? नहीं, यह बात नहीं है। परंतु गम्भीरतासे विचारनेपर यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होगी। विश्वके धरातलपर विभिन्न देश हैं। वहाँके नर-नारियोंके जीवनपर हम सूक्ष्म विचार करें। फिर हमें सन्देह नहीं रहेगा। जबतक हमें अपने सम्बन्धियोंसे सुख मिलनेकी सम्भावना रहती है, सुख मिलता रहता है, तबतक प्रेमसूत्र जुड़ा है। सुखकी आशा मिटी, सुख मिलना बंद हो गया कि बस प्रेम भी टूट गया। न टूटा तो शिथिल तो हो ही जायगा।

इसीलिये ऋषियोंने सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, इन समस्त काममूलक सम्बन्धोंको भगवत्प्रेममें परिणत कर देनेकी सरल एवं अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था कर दी थी। वे आदेश दे गये थे—पत्नीको चाहिये कि वह अपने पतिको प्रभुका रूप मानकर ही उससे प्रेम करे, पतिको चाहिये कि अपनी पत्नीको वह प्रभुका ही रूप समझे। पुत्र पितामें प्रभुकी ही भावना करके उनकी सेवा करे। पिता अपने पुत्रको प्रभुकी अभिव्यक्ति मानकर ही उसका संलालन करे। जहाँ जिससे सम्बन्ध हो, उसमें एकमात्र प्रभुको ही अभिव्यक्त देखकर, इस अनुभूतिको सतत बनाये रखकर ही यथायोग्य सेवामें प्रवृत्त हो। इस भावनाका यह निश्चित परिणाम होना ही है कि बहुत शीघ्र ही हमारा अहङ्कार विगलित हो जायगा; हमारे अंदर जो स्पर्धाकी वृत्ति है, दूसरेको फलते-फूलते देखकर हम जो ईर्ष्या करने लगते हैं, यह नष्ट हो जायगी; असूया (परदोषदर्शन) की वृत्ति भी समाप्त हो जायगी; आज जो हम गर्वमें भरकर लोगोंका तिरस्कार कर बैठते हैं, यह भी नहीं रहेगा—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १५)

तात्पर्य यह कि अनादि संस्कारवश, कर्मवश जब हम जगत्में हैं, तब हमारा लोगोंसे सम्बन्ध हुए बिना रह नहीं सकता। पर यदि हम ऋषियोंकी बाँधी हुई मर्यादाका अनुसरण करें तो इन काममूलक सम्बन्धोंका कोई दोष हमें स्पर्श नहीं कर सकेगा; अपितु हम अपने जीवनके चरम उद्देश्यको भी प्राप्त कर लेंगे। विषको शोधकर हम अमृत बना लेंगे, हमारे इस काम-सम्बन्धका पर्यवसान भगवत्प्रेममें हो जायगा। पर होगा तब, जब हम करना चाहेंगे। कहीं आजकी भाँति प्रेमका स्वाँग रचने जायँगे, कामका जो प्रवाह बह रहा है, उसीमें सुखका अनुभव कर, प्रभुको बीचमेंसे अलगकर हम भी बह चलेंगे तब तो हो चुका ! आज क्या हो रहा है ? जरा पाश्चात्त्य देशोंकी ओर दृष्टि उठाकर देखें—यौवनके उन्मादमें युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। उन्मादकी दूसरी लहर उठनेतक न जाने प्रेमका कितना कैसा सुन्दर अभिनय चलता रहता है। पर स्वार्थका एक हलका-सा झोंका लगा, अपेक्षाकृत तनिक-सा अधिक सुन्दर सुखका दूसरा साधन सामने उपस्थित हुआ कि समस्त प्रेम क्षणभरमें हवा हो जाता है। पत्नी दूसरा पति वरण करती है, पति दूसरी पत्नी स्वीकार करता है। यहाँ भी जो मन पहले था, वह तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है; यहाँ भी ठेस लगते देर नहीं लगती तथा इसे भी छोड़कर नया सम्बन्ध स्थापित होता है। एक-दो-तीन चार—न जाने कितने परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक सम्बन्धके आरम्भमें ही प्रेमका नाटक तो ठीक-ठीक साङ्गोपाङ्ग ही पूर्ण होता है। ऊपरसे देखनेपर ठीक ऐसा लगता है मानो सचमुच ही इस बार दो हृदय सदाके लिये एक होने जा रहे हैं। पर होता वही है जो कामके क्षेत्रमें सदा हुआ करता है। दूसरा प्रलोभन आता ही है, तथा दोनों नये सुखकी खोजमें नया सम्बन्ध ढूँढ़ने चल पड़ते हैं। और मजा यह है कि ऐसा होना, ऐसा करना सभ्यताका अङ्ग माना जाने लगा है; इसका विरोध करनेवाले, सत्यको सामने रखनेवाले व्यक्ति पिछड़े हुए समझे जाते हैं। भारतवर्षपर भी इस उन्मादी लहरकी छाया पड़ने लगी है। इसका कुछ-कुछ नमूना हम अपने स्कूल-कालेजोंके छात्र-छात्राओंमें, उच्छृङ्खल युवक-युवतियोंमें देख सकते हैं। हमारे ऋषियोंने जो सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, प्रत्येक काममूलक सम्बन्धको ही विशुद्धतम बना देनेकी जो उनकी व्यवस्था थी, उसके प्रति हमारे अधिकांश शिक्षित युवक-युवतीवर्गका आदर नहीं

रहा है। अपने अतीतके गौरवमय अध्यात्मप्रवण इतिहासको वे अविकसित पुरुषोंका जीवन मानने लगे हैं। उनका आदर्श बन रहा है आजका वह समाज, जो भोग भोगनेकी पूरी स्वतन्त्रता देता है, जहाँ जिसमें नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त करनेकी, विषयोंका उपभोग करनेकी घुड़दौड़ मच रही है। इस आदर्शके अनुरूप ही वे अपना जीवन-निर्माण करने जाते हैं। उन्हें पुरानी बातें पसंद नहीं, उन्हें तो नवीनता चाहिये, विकसित युगकी बातें ही वे ग्रहण करेंगे, और इसीलिये उनके प्रेमका क्षेत्र भी इस युगके अनुरूप ही होता है। कामके नग्न-नृत्यको ही वे प्रेमका विलास मानते हैं और उस प्रेमकी वेदीपर बलिदान होनेमें अपनेको अत्यन्त गौरवान्वित अनुभव करते हैं। यह है आजकी दशा !

जो हो, हममेंसे जिनका विवेक सर्वथा मर नहीं गया है, जो अपने जीवनको केवल अपने लिये ही नहीं—समाज, राष्ट्र, विश्वके हितकी दृष्टिसे भी उन्नत देखना चाहते हैं, उन्हें तो सावधान ही होना चाहिये। हम कहीं भी प्रेम-सम्बन्ध स्थापित क्यों न करें, सबसे पहले वहाँ प्रभुको लाकर खड़ा करें। इस रूपमें प्रभु ही हमारे सामने हैं, यह भावना अक्षुण्ण बनी रहे। अन्यथा इस भावनासे रहित कोई भी सम्बन्ध काममय सम्बन्धमें परिणत हुए बिना नहीं रहेगा। भले ही उसका प्रारम्भिक रूप कितना भी पवित्र, कैसा भी सुन्दर क्यों न हो। तथा इस भावनाके साथ ही बहुत नहीं तो कम-से-कम एक बातका और ध्यान रक्खें। प्रेममें स्वार्थ साधनेकी वृत्ति, किसी प्रकारकी भी स्वसुखभावना—हमें प्रेमास्पदके द्वारा सुख मिले—यह भावना नहीं रह सकती। विशुद्ध प्रेममें तो अपना सर्वस्व समर्पणकर प्रेमास्पदको सुखी करनेकी ही वासना रहती है, उससे सुख पानेकी नहीं। जहाँ स्वयं सुख पानेकी इच्छा है, वहाँ प्रेम नहीं—काम है, यह मान लेना चाहिये; किंतु हम इस सम्बन्धमें बहुत बार धोखा खा जाते हैं। हमारा अहंभाव हमें ठगता रहता है। हम समझते हैं, हम तो प्रेम कर रहे हैं, हमारे मनमें एकमात्र प्रेमास्पदके सुखकी ही वासना है; पर वास्तवमें हम करते रहते हैं कामकी उपासना, हमारे अंदर भरी होती है प्रेमास्पदसे स्वयं सुख पानेकी छिपी लालसा। इस भ्रमजालको भी हमें अवश्य तोड़ देना है; इस छिपे स्वार्थकी, स्वसुख-लाभकी वृत्तिको शीघ्र-से-शीघ्र कुचल देनी है। यह कुछ कठिन अवश्य है, पर करनेसे क्या नहीं होता। कामको—स्वसुखवासनाको प्रेमका स्वाँग देकर हमारे सामने रखनेवाली अहंताको हम एक बार ठीकसे पहचान लें तथा पहचानकर निरन्तर सजग बने रहें। अपने किसी भी प्रेमके सम्बन्धमें हमें अपने अंदर उसकी तनिक भी गन्ध मिले कि बस उसी क्षण इसे विशुद्ध प्रेमके निर्मल सुवाससे ढँक दें; हमारा प्यारा सुखी हो, हमें इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये—इस परम पुनीत सरस सुरभित भावनाको जाग्रत्कर अन्य समस्त वृत्तियोंको शान्त कर दें। एक बार, दस बार, सौ बार, हजार बार—जितनी बार हमारी वह अहंता, कामकी माया—अँधेरा फैलावे, उतनी बार हम विशुद्ध प्रेमप्रदीपकी लौको तेजकर, उसके आलोकमें प्रेमास्पदको देखने लग जायँ। फिर तो क्रमशः वह लौ उज्ज्वल, उज्ज्वलतर होती जायगी, एवं अँधेरा क्षीण-क्षीणतर होता जायगा। किसी दिन यह अँधेरा सर्वथा, सदाके लिये विलुप्त हो जायगा और बच रहेगा एकमात्र हमारा प्रेमास्पद। प्रेमास्पद कौन ? प्रभु ! इसी स्थितिका संकेत इन श्रुतियोंमें प्राप्त होता है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। (छान्दोग्योपनिषद् ७। २४। १)

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वही भूमा (प्रभु) है।'

प्रेम एवं कामका अन्तर हमारे आचार्योंने विस्तृतरूपसे बताया है। प्रेमके महामहिम पुजारियोंने सूक्ष्म विवेचनके द्वारा समझाया है—किस प्रकार हमारी अहंता कामको प्रेमका नकाब पहना देती है। पर उनके विवेचनको, उनके दिये हुए दिव्य उदाहरणोंको हम हृदयङ्गम कर सकें—यह भी सम्भव नहीं। कामसे अभिभूत हुए हमारे मनमें उन दिव्य भावोंके लिये स्थान ही नहीं, कामका इतना गहरा काला रंग हममेंसे अधिकांशके ऊपर चढ़ गया है। उनका तो उल्लेख ही व्यर्थ है। पर हम जहाँ हैं, हमारा मस्तिष्क जिस धरातल-पर क्रियाशील है, उसके अनुरूप विवेचन भी यदि हम ग्रहण करना चाहेंगे तो हमें मिल सकते हैं। एक पाश्चात्त्य संतने प्रच्छन्न कामका जाल रचनेवाली हमारी अहंताका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यदि हम उन संतकी इन थोड़ी-सी बातोंको ही समझ लें, ग्रहण कर लें, और फिर उसके सहारे आत्मनिरीक्षण करते हुए ऊपर उठने लग जायँ तो सचमुच देखते-ही-देखते ऊपर उठ ही जायँ। हमारा काम बन जाय, स्वार्थकी वृत्तिपर हम विजय पा लें, अहंताके भ्रममें फिर न फँसें। वे संत कहते हैं—

"अहंकारका एक रूप और है, जो इतना प्रच्छन्न रहता

है कि ऊपरसे अहंकारका अत्यन्त विरोधी भाव प्रतीत होता है। इस प्रकारके अहंकारसे, उसकी छद्मवेषताके कारण हमें सजग होकर अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह अहङ्कार प्रायः प्रेमके साथ देखनेको मिलता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रेमसे स्त्री-पुरुषके दाम्पत्य-प्रणयका ही अर्थ ग्रहण किया जाय; किंतु फिर भी न्यूनाधिक रूपमें प्रबल प्रेमसे तो आशय है ही। अहंकारके अन्य रूपोंकी भाँति इसमें भी स्वार्थ एवं अहम्मन्यतासे सम्बन्ध रहता है; पर यहाँ इन दोनोंका वेश ऐसा बदला रहता है कि सुतीक्ष्ण दृष्टिके बिना उनको देखना असम्भव है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक स्त्री अपनी किसी सखीको इतना प्यार करती है मानो उसकी पूजा-सी करती है। अपनी सखीके लिये जो-जो करना सम्भव प्रतीत होता है, उसे करनेमें अपना सारा समय व्यय करती है। उसको मिठाई और फूल देने, उसके लिये सुन्दर-सुन्दर अधोवस्त्र बनाने, उसके पास असंख्य सन्देश भेजने, उसके फटे कपड़ोंको ठीक करनेसे लेकर उसके केशप्रसाधन आदिमें सहायता करनेतकके सभी कामोंको वह करती रहती है। प्रेमके इस प्रचुर प्रदर्शनको देखकर कुछ लोग कहेंगे, 'अहा! कैसी आराधना है! कितना हृदयस्पर्शी! कितना सुन्दर! कैसा निःस्वार्थ प्रेम है!' परंतु क्या सचमुच यह निःस्वार्थ प्रेम है? जब यह परमासक्त स्त्री सुनती है—किसीने उसकी सखीको मिठाइयाँ दी हैं, उसके लिये कुछ और भी किया है—उस समय यह सुनकर उसे पूर्ण सुखकी अनुभूति होती है क्या? उसका चित्त बिल्कुल शान्त रहता है क्या? उसके मनमें तो एक विकलता उत्पन्न हो जाती है, जिसको वह बता तो नहीं सकती; पर उससे उसका मन अस्थिर हो जाता है और उसके जीवनमें उल्लास बरसानेवाली ज्योत्स्ना कुछ मन्द हो जाती है। न जाने क्यों वह सोच लेती है कि दूसरोंकी दी हुई मिठाइयोंमें उतना स्वाद नहीं होना चाहिये जितना उसकी; दूसरोंका सन्देशवहन उतना सफल नहीं होना चाहिये जितना उसका; दूसरोंके दिये हुए केश धोनेवाले चूर्णोंमें उतना असर या सुगन्ध न होना चाहिये जितना उसके दिये हुए चूर्णोंमें। इसी प्रकार अन्य बातोंमें भी उसे दूसरेका हस्तक्षेप नहीं सुहाता। अब कल्पना करें कि कोई अदृश्य व्यक्ति उससे प्रश्न करता है, 'क्योंजी! क्या तुम नहीं चाहती कि तुम्हारी सखी सुखी रहे?' फिर तो वह प्रेमातिरेकसे उत्तर देगी—'कौन कहता है? मैं तो दिनभर उसे सुखी करनेकी चेष्टामें निरत रहनेके अतिरिक्त और कुछ करती ही नहीं। उसके सुखके लिये तो मैं अपने प्राणोंकी भी बलि दे सकती हूँ।' और कहीं वही अदृश्य स्वर पुनः पूछ बैठे—'फिर उसको सुख मिलनेपर तुम अशान्त क्यों होती हो?' अब यहाँ तो बस, मौन है। कोई उत्तर नहीं।

"बात क्या है? यह सारी स्वार्थहीनता केवल मिथ्या स्वार्थहीनता है। वास्तवमें यह रूप बदले हुए अहङ्कार है। जबतक वह परमासक्त स्त्री अपनी सखीको सुख देनेका कार्य स्वयं सम्पन्न करती है, आनन्द-ही-आनन्द है; किंतु जहाँ किसी दूसरेने उसे वैसे ही सुख पहुँचाया कि बस, दुःख होने लगता है। जिस प्रकार ईर्ष्याका वास्तविक कारण अहम्मन्यता है, उसी प्रकार यहाँ भी देनेका एकमात्र अधिकार अपनेमें ही सुरक्षित रखनेकी इच्छा भी अहम्मन्यतासे ही उत्पन्न होती है। यह कहना अनावश्यक है कि जहाँ कहीं भी अहम्मन्यता है, वहाँ अहंकार है ही; क्योंकि दूसरा पहलेकी ही एक वृत्ति है। यह कहा जाता है, 'वह धन्य है, जो प्रसन्नतापूर्वक देता है।' परंतु कभी-कभी ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'दूसरे व्यक्ति दे सकें, प्रसन्नतापूर्वक दूसरोंको यह आज्ञा दे देनेवाला धन्य है।' हमें इसकी चिन्ता क्यों हो कि हमारे प्रेमास्पदको सुख किससे मिलता है? मुख्य बात तो यह है कि हम जिन्हें प्यार करते हैं, वे सुखी रहें। जगत्में इस प्रकारकी मिथ्या स्वार्थहीनता तथा मिथ्या स्वार्थपूर्ण प्रेमके उदाहरण बहुत हैं। इसकी झलक नाना प्रकारके सम्बन्धोंमें दीख पड़ती है, जैसे—माता-पुत्रोंमें, माँ-बेटियोंमें, पति-पत्नियोंमें और दो प्रेमियोंमें।"

इसके पश्चात् वे संत पाश्चात्त्य देशकी सभ्यताके अनुरूप युवक-युवतियोंमें परस्पर होनेवाले प्रेमका, उनके वैवाहिक सम्बन्धका आदि-अन्त चित्रितकर स्पष्ट कर देते हैं कि किस प्रकार इसमें स्वार्थका नग्नवृत्य भरा होता है। आज भारतके युवक-युवती अपने पुनीत सिद्धान्तसे, धर्ममय मर्यादासे च्युत होकर, व्यामोहमें पड़कर जिस प्रेमका अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति करते हैं, वह वास्तवमें कितना मलिन स्वार्थमय सम्बन्ध है—यह संतके उस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है। वे बतलाते हैं—

"प्रदर्शन-प्रिय प्रेमियोंकी तो एक जाति होती है, जो इसका पूरा-पूरा चित्र खड़ा कर देती है। इस प्रकारका प्रेमी (कल्पना कर लें आप स्त्री हैं तो) आपके लिये दिनमें बीसों बार मरनेको तैयार रहेगा। × × × आपको अनुभव होगा—इससे पूर्व संसारमें कभी भी किसीने भी आपको

इतना प्यार नहीं किया, आपकी इतनी पूछ कभी नहीं हुई, और किसीके लिये भी आप उसके जीवनकी इतनी आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं हुईं। उसके मुखसे प्रवाहित होनेवाली स्नेहस्यन्दिनी वाणी आपको सातवें आसमानपर चढ़ा देगी। आप बार-बार उसके मुखसे सुनेंगे—'प्रिये! विधाताका सम्पूर्ण कौशल तुम्हारी रचनामें ही व्यक्त हुआ है; कहीं भी, किसी भी दृष्टिसे कोई कसर नहीं रही; तुम तो पूर्णताकी खान हो।' तथा इस प्रकार अपना समादर करनेवाले, अपनेसे इतना प्रेम करनेवाले व्यक्तिको पाकर आप सुखमय आश्चर्यमें डूब जायँगी। ××× ठीक भी है; इसमें सन्देह नहीं कि यह सुख अपूर्व है। किंतु अफीम खानेवालेके भी आरम्भकालीन स्वप्न ऐसे ही होते हैं—मत्त आह्लादपूर्ण, चमचमाते हुए मनोराज्य! पर इसमें पीछे प्रतीत होनेवाली कमियोंका क्या रूप है? आपको पता लगने लगता है कि इस प्रकारसे अत्यन्त चाहे जानेमें भी कोरी मिठास-ही-मिठास तो नहीं है। (और मान लें उस अनुभवके पूर्व ही आपका उसी व्यक्तिसे विवाह हो गया) फिर तो आपको अनुभव होगा कि आप एक जालमें फँस गयी हैं—××× और उस पतिके व्यवहार-बर्तावसे अन्तमें आप इस भयानक निष्कर्षपर पहुँचती हैं कि वह जो प्रेमी (विवाहसे पूर्व) जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ नमूना प्रतीत होता था, आज सर्वाधिक स्वार्थी और एक अत्यन्त असह्य पति बन गया है। दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि आपका ऐसा सोचना ठीक है। क्या आरम्भसे लेकर अबतक वह सचमुच आपको ही प्यार कर रहा था? नहीं, वह अपने आपको प्यार कर रहा था, उस सुखको चाह रहा था जो उसे आपसे मिल रहा था। उसका अभिप्राय एकमात्र अपने सुख पानेसे था और उसकी समस्त मनोरम वचनावलियाँ स्वार्थपूर्ण अनुरोधका रूपान्तरमात्र थीं। यदि आपने उसे ठुकरा दिया होता तो वह मरनेको तैयार हो जाता—यह मृत्युका आवाहन आपके लिये नहीं, आपके कारणसे! उसकी अहम्मन्यतापर पहुँचा हुआ आघात तथा उसकी अभिलाषाओंका मर्दन उसके लिये इतना असह्य हो जाता कि वह आत्मघात करके शान्ति प्राप्त करना चाहता। वह तो सबसे बड़ा अहंकारी है, जो अभिलषित वस्तुको न प्राप्त करनेकी अपेक्षा जीवित न रहनेको श्रेयस्कर समझेगा। साधारण अन्तरके साथ उसके समान सहस्रों व्यक्ति प्रेमका दम भरनेवाले मिलेंगे। 'भग्नहृदय होकर मर जाना!' इस काव्यमय प्रतीत होनेवाले वाक्यका वास्तविक अर्थ क्या है? स्वार्थके कारण मरना। अलभ्य वस्तुकी निरन्तर चाहसे अभिभूत होकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।"

"स्वार्थ और अहंकार कितने प्रच्छन्न हो सकते हैं और इनमें भी अहंकार हमारे चरित्रके प्रत्येक छिद्रों और दरारोंमें कीटाणुकी भाँति चुपकेसे पहुँचकर, जहाँ बिल्कुल भी आशा नहीं है, ऐसे स्थलोंपर सिर निकालकर कैसे झाँकने लगता है—यह हम देख लें। इस साँपसे अपनी रक्षा करें। यह बड़ा भयानक है—नहीं-नहीं, यह हमारे समस्त सौन्दर्यको नष्ट कर देनेवाला रोगकीटाणु है। इसे तो ज्ञानरूप शोधक एवं निर्विष कर देनेवाले औषधविशेषसे नष्ट ही कर देना चाहिये।'*

आदरणीय संतके ये उद्गार बड़े ही सरल एवं नपे-तुले हैं, पर हैं अत्यन्त व्यापक। जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें इन भावोंकी कसौटीपर अपनी चेष्टाओंको कसकर देख लें। हम स्वार्थ (काम) के कण्टकमय वनमें चक्कर लगा रहे हैं, या निर्मल प्रेमके राज्यमार्गपर अग्रसर हो रहे हैं—यह निर्णय हमें मिल जायगा तथा वस्तुस्थिति समझ लेनेपर हम यदि अपना सुधार करना चाहें तो अवश्य कर सकते हैं।

हमारा भ्रान्त मन इन बातोंका उल्टा अर्थ भी ले सकता है। वह हमें कहेगा कि जब सर्वत्र सभी सम्बन्ध स्वार्थसे पूर्ण हैं, इनमें विशुद्ध प्रेम है ही नहीं तो चलो, छोड़ो, सबसे अलग हो जाओ। पर यह भी मनका धोखा ही है। हम अलग जायँगे कहाँ? जहाँ जायँगे, मन तो साथ रहेगा! मनमें भरा है संसार, भरी है स्वार्थवासना, काम-लालसा। बाहरसे सर्वथा वैरागी बनकर भी भीतरसे अत्यन्त कलुषपूर्ण साम्राज्यमें ही हम विचरते रहेंगे, हमारे अंदरसे सबकी अनजानमें ही विषका प्रवाह बहता रहेगा और न जाने कितने प्राणी उसके सम्पर्कमें आकर पतङ्गकी भाँति झुलसनेका प्रोत्साहन पायेंगे। आवश्यकता तो इस बातकी है कि सच्ची नीयतसे आत्मपरीक्षण करके हम कामरूप विषको शोध डालें। फिर यह अमृत बन जायगा, हमें नवजीवन देकर हमारे लिये, अनेकोंके लिये अनन्त शाश्वत सुख-शान्तिका द्वार खोल देगा।

उपर्युक्त सभी बातोंका सारांश इतना ही है—हमारे प्रत्येक सम्बन्धमें प्रभुकी भावना, उनका अस्तित्व ओतप्रोत रहे। यह हुए बिना हम कामके क्षेत्रमें बरबस गिर पड़ेंगे।

---

* 'THE INITIATE IN THE NEW WORLD' नामक पुस्तकके एक अंशका भावानुवाद।

स्वार्थकी वासना सर्वथा न रहे; क्योंकि प्रेमराज्यमें इसके लिये तनिक भी कहीं भी स्थान नहीं है। वहाँ तो सर्वत्र, अणु-अणुमें एक ही स्पन्दन है—हमारा प्यारा सुखी रहे। हमारे द्वारा ही प्यारेको सुख मिले, यह भी न रहे; इसके फेरमें हम कभी न पड़ें। यहाँ भी स्वार्थ—कामकी माया है, हमारी अहंताका जाल है; इससे भी हमें निश्चितरूपसे बचना है। सच्चे प्रेमीको यदि कभी अपनी स्मृति होती है, तब उस समय भी उसके हृत्तन्त्रीके तारपर तो यही स्वरलहरी झङ्कृत हो उठती है—

'हमारा क्या है; हम रहे न रहे।'

यह बात भी जान लेनेकी है कि वास्तवमें उपर्युक्त सभी बातें प्रेमसाम्राज्यसे बहुत दूर इधरकी हैं। प्रेमकी भूमिकामें पदार्पण करनेपर, हमारे अंदर प्रेमकी प्रतिष्ठा हो जानेपर यह भावना नहीं करनी पड़ती, स्मरण नहीं करना पड़ता कि ये (प्रेमास्पद) प्रभु हैं, ये हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं आदि। वहाँ तो प्रेमीका यह नित्यसिद्ध अनुभव है। अभी जो हम भावना कर रहे हैं, हमें जैसी प्रतीति हो रही है, बुद्धिका जैसा निर्णय है, वैसा ही वह अनुभव भी हो, यह बात भी नहीं। वह स्थिति तो ऐसी होती है कि उसके लिये कुछ भी कहना नहीं बनता; किन्तु हमें अभी इतनी ऊँची बातोंको जानने-सुनने, सोचने-समझनेकी भी आवश्यकता नहीं। हम तो अभी कीचड़में फँसे हैं, प्रेमके सुन्दर सरोवरमें अवगाहन करनेका स्वप्न देखनेसे क्या लाभ? हमारे लिये तो यही उचित है, यही नितान्त आवश्यक है—हमारे जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबमें प्रभुकी भावना करके भावनाके द्वारा शक्तिसञ्चय करके हम पहले कामरूप कीचड़से बाहर निकल आयें। फिर विशुद्ध प्रेमवारिसे—हम जिन्हें प्यार करते हैं, वे सुखी रहें, उनसे हम नहीं—इस विशुद्ध भावजलसे कण्ठतक लगी हुई कीचको धो डालें। और तब अनादिकालसे सिरपर अहंताकी गाँठोंसे भरा बोझा जो लादे हुए हैं, उसे भी फेंककर, सर्वथा हल्के होकर, प्रेममन्दिरकी ओर चल पड़ें। इसमें हमारा लाभ तो है ही, जगत्के लिये भी हमारा जीवन—अभी जो अभिशाप बना हुआ है—वरदान बन जायगा। हमारे पथका अनुसरणकर न जाने कितने कृतार्थ होंगे।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४१)

निशीथकी नैसर्गिक शान्ति मधुपुरके अधीश्वर कंसको स्पर्श नहीं करती। वह तो इस समय भी उतना ही उद्विग्न, वैसा ही अशान्त है, जब कि समस्त मधुपुर विश्रान्तिकी गोदमें नीरव—निष्पन्द हो रहा है। उसके प्राणोंमें, मनमें, रक्तधमनियोंमें सतत एक झंझावात-का-सा कम्पन रहता है। उसकी भयावह चिन्ताओंके तार टूटते नहीं। मृत्युनिवारणकी अनेकों नृशंस योजनाएँ बनती रहती हैं, वह इस सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। अभी भी सोच रहा है—

हन्त! सत्यतासारेण देव्या वचनानुसारेण नन्दगोपडिम्भतादम्भ एव स कोऽपि गोपितः सम्भाव्यते। येन नूतनावयवेनापि दुःसहमहसः पूतनादयः सहसा गाम्भीर्यावृतेन वीर्यातिशयेना-लम्भनीयतां लम्भिताः। त्रस्यति च तस्य नामधाम-वशान्मम हृदयम्। तस्मादसौ छलत एवोत्कलनीयः।
(श्रीगोपालचम्पूः)

'आह! देवीकी बात तो परम सत्य होगी; उसके अनुसार मेरे प्राण अपहरण करनेवालेने जन्म तो लिया ही है। और अब तो निश्चित सम्भावना हो रही है—वह चाहे कोई भी हो—है वह नन्दपुत्रका छद्मवेश धारण किये हुए; उसीमें छिपा है। स्पष्ट है—उस नन्दपुत्रकी इतनी छोटी आयु है, पर उसका बलवीर्य कितना अपरिसीम है! देखनेसे प्रतीत थोड़े ही होता है कि वह इतना शक्तिशाली है! उसके बलपर गम्भीरताका एक आवरण पड़ा रहता है! अरे, उसीने तो पूतना आदि दुःसह बलसम्पन्न प्राणियोंको देखते-देखते मृत्युकी गोदमें सुला दिया। उँह! उसके नामकी, तेजकी बात स्मरण करते ही मेरा हृदय काँप उठता है! सम्मुख जाकर पार पाना असम्भव है; उसे तो छलसे उखाड़ फेंकना होगा।'

आवेशवश कंसका शरीर काँपने लगता है।

शय्यासे उठकर वह हर्म्यके एकदेशमें घूमने लग जाता है। चिन्ताकी धारा भी अविच्छिन्न चलती ही रहती है—

हन्त ! छलानप्युत्तरमुत्तरमतिरिक्तं युक्तमेव ते प्रयुक्तवन्तः। तथापि कदर्थितीभूय व्यर्थीभूताः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय ! छलसे भी क्या होगा ? जहाँ जो उपयुक्त थे, ऐसे उत्तरोत्तर एक-से-एक बढ़कर छल भी प्रयोग करके देख लिये गये। पर परिणाम क्या निकला ? सभी तुच्छ सिद्ध हुए ! सभी व्यर्थ !'

'दौवारिक !'—सहसा कर्कश स्वरसे वह पुकार उठता है। द्वाररक्षकको आज्ञा होती है—'अभी इसी क्षण गुप्तचरको उपस्थित करो।'

चर अपने महाराजके आशयसे चिरपरिचित है। पर आज इस असमयमें आह्वान सुनकर उसका हृदय धक्-धक् करने लगता है। वह निकट जाकर वन्दना करके आज्ञाकी प्रतीक्षा करता है। उसे महाराजके मुखपर अङ्कित भावकी रेखा स्पष्ट दीख जाती है। महाराज भी किसी अन्य भूमिकाके बिना ही तुरंत बोल उठे—

अये ! त्वयेदमप्यवकलितं जातौ कस्यां तस्यादरः स्नेहभरश्च परमः परामृश्यते ?

'क्यों रे ! तुमने यह भी देखा क्या कि उस नन्दपुत्र-का सबसे अधिक प्रेम किसपर है ? किसका आदर वह करता है ? मेरा तात्पर्य है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग—किस जातिके प्राणी उसे सर्वाधिक प्रिय हैं ? उसके आदरके पात्र कौन-से प्राणी हैं ?'

इसी चरने यशोदाके नीलसुन्दरकी उस मनोहर वत्सचारणलीलाके दर्शन किये हैं। स्वयं अपनी आँखोंसे यह देख आया है—श्रीकृष्णचन्द्र प्रत्येक गोवत्सको ही मानो अपने प्राणोंका रस देकर आप्यायित कर देना चाहते थे। कभी वे अपने पीताम्बरको आर्द्रकर गोवत्सके फेनिल मुखका प्रक्षालनकर उसपर शत-शत चुम्बन अङ्कित करने लग जाते थे। किसी गोवत्सका कण्ठ अपनी सुन्दर भुजाओंमें धारण कर लेते और फिर उसके सिरपर अपने चूर्णकुन्तलमण्डित सिरको रख देते थे। गोवत्स उनका यह अप्रतिम स्नेह पाकर सारी चञ्चलता त्यागकर, किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्दमें विभोर होकर उनके हाथका यन्त्र बन जाता था। किसीके अङ्गोंपर लगे हुए धूलिकणोंको अपने सुकोमल करपल्लवसे अपसारितकर उसके अङ्गोंका सम्मर्दन करते थे। शीतमें भी उनके उन्नत भालपर, उभरे हुए सुन्दर कपोल-युग्मपर स्वेदबिन्दु झल-झल कर रहे थे; पर इस ओर उनका तनिक भी ध्यान न था, वे तो उनके लिये हरित सुकोमल तृणराशि सञ्चय करनेमें लगे थे। क्षुप, तृण, वीरुधोंके समीप जाकर पहले उसका एक पत्र लेकर सूँघते थे; फिर मुखमें रखकर स्वादकी परीक्षा करते थे। यदि वह सुरभित, सुमिष्ट होता तो उसे ले लेते थे; नहीं तो उसे छोड़कर दूसरी जातिके पत्र आहृत करते थे। गोपशिशु उनकी सहायता अवश्य करते थे, पर अधिकांश कार्य वे स्वयं कर रहे थे। राशि-राशि वन्य पुष्पोंको लेकर उन गोपशिशुओंने मालाएँ बनायी थीं और श्रीकृष्णचन्द्रने प्रत्येक गोवत्सको अपने हाथोंसे विभूषित किया था। वनमें आनेसे लेकर व्रजमें लौटनेतक छाक-भोजनके अतिरिक्त उन्होंने और कुछ भी नहीं किया था, एकमात्र वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे थे। उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओंको देखते-देखते चरका राक्षस-हृदय भी आर्द्र हो उठा था। अतः इस समय कंसके पूछते ही चरके मानस-नेत्रोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी वही झाँकी नाच उठती है। वह अविलम्ब अत्यन्त दृढ़ स्वरमें अपनी धारणा बता देता है, महाराजके प्रश्नका उत्तर दे देता है—

देव ! गोवत्सेषु तदुत्सेकः प्रतीयते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'नाथ ! गोवत्सोंपर उस बालकका स्नेह उमड़ चलता है, ऐसा प्रतीत होता है।'

बस, इतना ही जानना अभिप्रेत था। चरको घर लौट जानेका आदेश होता है तथा दूसरे ही क्षण अङ्गरक्षक सेवकको दूसरी आज्ञा मिलती है—

आकार्यतां पुरतः स वत्सासुरः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'उस वत्सासुरको मेरे सामने बुला लाओ।'

कंसके मुखपर आसुरी उल्लासकी एक क्षीण लहर झलमल कर उठती है। वत्सासुरकी प्रतीक्षामें वह द्वारकी ओर देखता रहता है। और जब वह आ जाता है तो फिर कंसके उल्लासका क्या कहना! मानो पिता-पुत्रका मिलन हुआ है। नीतिज्ञ कंस वत्सदैत्यकी ठीक वैसे ही प्रशंसा करने लगता है जैसे वह अपने औरस, प्रिय पुत्रके बल-वीर्यका, सुयशका गान कर रहा हो। यह करके फिर उसपर अपनी अभिसन्धि प्रकट करता है।

वत्स वत्सासुर! गच्छ नन्दस्य व्रजम्। गत्वा च वत्सांश्चारयतः कुमारयतस्तत्कुमारस्य सदेशमासाद्य निजं वत्सवेशमुत्पाद्य तस्यापकारमारभस्व।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाँ! तो मेरे प्रिय वत्सासुर! तुम अब नन्दव्रजमें चले जाओ। और जाकर एक काम करो। वहाँ वनमें वह नन्दकुमार वत्सचारण करता रहेगा, कुमारोचित क्रीडा करता रहेगा। उसके समीप चले जाना। इस कृत्रिम रूपमें नहीं; तुम अपने स्वाभाविक गोवत्सरूपको ही धारण कर लेना और उस रूपमें ही उसपर आघात करना। भला!'

समान विचार, समान चेष्टा—वत्स दैत्य वर्षोंसे अपने अधिपतिका ही तो अनुयायी रहा है। उसे तो अभिवाञ्छित ही प्राप्त हुआ। उसी क्षण वह मायावी वत्स व्रजेन्द्रके वत्सपालकी टोहमें चल पड़ा।

वत्सदैत्यके अनादि संसरणकी इति होने जा रही है। महर्षि वशिष्ठकी नन्दिनी (धेनु) के वचन सत्य होने जा रहे हैं। एक दिन यह वत्सासुर ही मुरुका पुत्र प्रमील नामक दैत्य था। यह अमरविजेता प्रमील भाग्यक्रमसे किसी दिन वशिष्ठके आश्रमकी ओर जा निकला। सुरूपा नन्दिनीपर उसकी दृष्टि पड़ी; देखते ही वह प्रलुब्ध हो गया। उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रमीलने ब्राह्मणका वेष बनाया और फिर वशिष्ठसे नन्दिनीकी याचना की। महर्षिकी वञ्चना प्रमील कर सके, यह तो कदापि सम्भव नहीं। पर शीलवान् वशिष्ठ मौन हो गये, इस दम्भीको क्या उत्तर दें? अवश्य ही नन्दिनी इस महत् प्रवञ्चनाको सह न सकी और बोली—

मुनीनां गां समाहर्तुं भूत्वा विप्रः समागतः।
दैत्योऽसि मुरुजस्तस्माद् गोवत्सो भव दुर्मते॥

(गर्गसंहिता)

'अरे! ब्राह्मण बनकर तू मुनियोंकी गायको हरण करने आया है! तू तो मुरुका पुत्र है, दैत्य है! दुष्टबुद्धि कहींका! जा, इस छलके कारण तू गोवत्स हो जा।'

उसी क्षण प्रमील गोवत्सरूपमें परिणत हो गया। अब उसे अपनी भूलकी प्रतीति हुई। नन्दिनीकी, महर्षिकी परिक्रमाकर, उनकी वन्दना करके वह रक्षाकी भीख माँगने लगा। स्नेहमयी नन्दिनी तुरंत द्रवित हो गयी और कह दिया—'अच्छा, जाओ; द्वापरके अन्तमें वृन्दावनमें जाकर जब तुम गोवत्सोंके साथ जाकर मिलोगे, तब तुम्हारी मुक्ति होगी।'

तबसे अगणित वर्ष व्यतीत हो गये। इस घटनाकी स्मृति क्रमशः क्षीण-क्षीणतर होती गयी; वत्स आज इसे सर्वथा विस्मृत कर चुका है। और इधर कुछ दिनोंसे न जाने कैसे उसमें पुनः कुछ क्षणोंके लिये कृत्रिम रूप धारण करनेकी, अलक्षित होनेकी क्षमता भी आ गयी है; पर वह स्थायी नहीं रहती, नन्दिनीके शापवश वत्सरूप ही उसका स्वाभाविक रूप बना रहता है। जो हो, कभी कृत्रिम, कभी अलक्षित और कभी वत्स-

रूपसे अपने मायाकौशलका विस्तार करता हुआ वह वृन्दाकाननकी ओर चला जा रहा है, रात्रिका अवसान होनेसे पूर्व ही वृन्दाटवीकी दिशामें दौड़ा जा रहा है। उसे पता नहीं—उसके इस मलिन जीवनकी, भवाटवी-भ्रमणकी यही अन्तिम रात्रि है। पता तो केवल स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिको है, जो चरको उन अनोखे वत्सपालके वत्सचारणका दर्शन कराने ले आयी थीं, कंसके मनमें समयोचित स्फुरणाएँ उद्बुद्ध कर आयी थीं, और जो अभी इस समय प्रमील दैत्यको—नहीं-नहीं वत्सासुरको निर्दिष्ट स्थानकी ओर भगाये लिये जा रही हैं। अस्तु—

यह तो इधरका मानचित्र हुआ। उधर वृन्दावनका अनुपम दृश्य देखिये। सदाकी भाँति रजनीका विराम होनेपर राम-श्याम जागे; जननीके अपरिसीम वात्सल्यसे सिक्त होकर, सुमिष्ट भोजनसे तृप्त एवं मनोहर भूषण-वसनसे सुसज्जित होकर शत-शत गोपशिशु तथा असंख्य गोवत्सोंसे आवृत होकर वनमें चले। पहले शृङ्गध्वनिसे आकाश पूर्ण हुआ, और फिर श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें चर-अचर, स्थावर-जङ्गम डूबने लगे। कलिन्द-नन्दिनीके तटका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराज-परिसरकी ओर, व्रजसे दूर वनस्थलीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अब जननीकी ओरसे नियन्त्रण किञ्चित् शिथिल हो गया है। क्योंकि प्रतिदिन राम-श्याम सकुशल घर लौट आने लगे हैं; वनमें कहीं भी तनिक भी कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित हुई, यह बात मैयाने प्रत्येक गोपशिशुसे पूछ-पूछकर अपने मनका समाधान-सा कर लिया है। अस्तु, चलते-चलते श्रीकृष्णचन्द्र यमुनातटवर्ती एक परम रमणीय प्रशस्त भूमिखण्डपर चले आये। सुन्दर विशाल वट-वृक्षोंसे, कपित्थ-तरुपङ्क्तियोंसे, हरित तृणराशिसे सुशोभित उस वनकी शोभा देखते ही बनती है। गोवत्स तृण चरने लगते हैं एवं अपने प्रिय सखाओंके साथ राम-श्याम एक वटकी छायामें अवस्थित होकर उनका निरीक्षण करते हैं। यहीं राम-श्यामके प्राण-हरणकी इच्छा लिये वह वत्सासुर भी आ पहुँचता है—

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ४१)

आते ही वह गोवत्सोंकी अपार टोलीमें मिल गया। अवश्य ही उसकी दृष्टि राम-श्यामकी ओर ही केन्द्रित रही। तृण चरनेका अभिनय भी वह कर रहा है, पर क्रमशः राम-श्यामके सन्निकट होता जा रहा है; किंतु सहसा एक नयी बात हुई। उसके निकटवर्ती गोवत्स इस नये आये गोवत्सके—वत्सासुरके अङ्गोंसे निर्गत गन्धको सह न सके, उसकी गन्ध पाते ही उनमें भयका सञ्चार हो गया; वे मल-मूत्र त्याग करते हुए, पूँछ उठाकर कूदने लगे, अपने परम रक्षककी ओर दौड़ चले। श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि भी इस ओर चली ही गयी। कुछ क्षण वे उस ओर देखते रहे तथा फिर बलरामजीसे बोले—

बृहद्भ्रातः! प्रातरनायातः परिचीयते वा कोऽयमुपतोयं प्रतीयते वत्सः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया! प्रातःकाल मेरे साथ तो वह आया नहीं दीखता। तुम पहचानते हो, कुछ बता सकते हो, वह जलके समीप कौन-सा बछड़ा है? तुम्हें दीखता है न?'

अग्रज बलरामकी तो उस ओर दृष्टि ही नहीं थी। वे तो एक बार उधर देखकर अस्वीकारकी मुद्रामें बोल उठे—

भ्रातर्नहि नहि। (श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया! नहीं; मैं तो कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं पहचानता।'

श्रीकृष्णचन्द्र धीरेसे अपना एक हाथ बलरामके कंधेपर रखकर बोले—

निरूप्यताम्? (श्रीगोपालचम्पूः)

'ठीकसे देखकर बताओ तो सही, क्या बात है?'

इस बार बलरामकी तीक्ष्ण दृष्टि वत्सासुरके नेत्रोंमें समा गयी और वे धीरेसे कहने लगे—

भीषणप्रकृतिरिव प्रतीयते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'यह तो अत्यन्त भीषण प्रकृतिका कोई जन्तु प्रतीत हो रहा है !'

रोहिणीनन्दनकी बात पूरी होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने रहस्योद्घाटन कर दिया—

पूर्वज ! पूर्वदेवोऽयम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया ! दाऊ भैया ! यह तो राक्षस है !'

फिर तो बलरामने भी अपने अनुजका समर्थन ही किया—

सत्यम्; यस्मादस्मासु वत्सेषु चाकस्माददृष्टिजा दृष्टिरस्य दृश्यते।

'बिल्कुल ठीक ! देखो न, हमलोगोंपर तथा अपने गोवत्सोंपर अकस्मात् इसकी कितनी क्रूर दृष्टि दीख रही है !'

व्रजेन्द्रनन्दनके मुखपर किञ्चित् रोषकी लालिमा भर आयी और वे अपने अग्रजके कानमें धीरेसे कहने लगे—

यदि भवदादिष्टं स्यात्तर्ह्येतं दिष्टान्तमासादयामि।

'आपकी आज्ञा हो जाय, फिर तो मैं इसे मृत्युके मुखमें पहुँचा देता हूँ।'

अपने अनुजको यह अनुमति प्रदान करनेमें रोहिणीतनयको एक बार झिझक हुई, पर फिर हँसकर उन्होंने स्वीकृति दे ही दी। हाँ, सावधान अवश्य कर दिया—

सच्छलमेतं सच्छलमेव मन्दं मन्दमभ्यवस्कन्द।

'देख भैया ! छलके साथ यह दैत्य यहाँ आया है; तो तू भी इसके समक्ष छल करते हुए धीरे-धीरे—मानो तुझे इसका सर्वथा पता नहीं हो, तू तो किसी अन्य गोवत्सकी ओर जा रहा हो—इस प्रकार जाना, भला !'

अग्रज-अनुजका यह परामर्श क्षणोंमें ही सम्पन्न हो गया और इतने गुप्तरूपसे, मानो कुछ हुआ ही नहीं; केवलमात्र श्रीकृष्णचन्द्रने गोवत्स-वेषमें आये दैत्यको बछड़ोंके समूहमें मिल जाते देख लिया हो तथा फिर बलरामजीको दिखाकर उसके पास सर्वथा मुग्ध-से बने हुए जा पहुँचे हों, जैसे इतनी-सी ही बात हुई हो—

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत्॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४२)

अस्तु, वत्सासुरको प्रतीत हुआ कि बिना परिश्रम सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो गया है। एक क्षणका भी विलम्ब न करके वह अपने दोनों पिछले पैरोंसे श्रीकृष्णचन्द्रके स्कन्धदेशपर भरपूर आघात कर बैठा—

दैत्यः पश्चिमपादाभ्यां हरिमंसे तताड ह।

श्रीकृष्णचन्द्र तो सावधान हैं ही। उन्होंने पूँछके सहित उसके दोनों पिछले पैरोंको हाथसे पकड़ लिया; फिर उसे ऊपर उठाकर चक्राकार घुमाने लगे। इस प्रकार दो-चार बार घुमानेकी ही देर थी; फिर तो उसके संसारचक्रका परिभ्रमण सदाके लिये समाप्त हो गया। देवजयी वत्सासुरके शरीरकी समस्त शक्तियाँ इतनेमें ही शान्त हो गयीं, शरीर निष्प्राण हो गया। अब मृतदेहको घुमानेमें लाभ ही क्या ? श्रीकृष्णचन्द्रने उस देहको एक कपित्थ वृक्षपर पटक दिया। महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें वत्सका प्रकाण्ड दैत्यशरीर प्रकट हो गया था। ऐसे अत्यन्त विशाल दैत्यदेहके आघातसे वह कपित्थ तो टूटकर गिरा ही, कई कपित्थतरु एक-दूसरेके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर वत्सासुरके साथ ही धराशायी हो गये—

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम्।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४३)

पुच्छ सहित लै पिछले पाइ, दियौ फिराइ फिराइ बगाइ।
महाकाइ ऊपर ही मरयौ, बहुत कपित्थन लै धर परयौ॥

सहसा ऐसी घटना घटित देखकर गोपशिशु एक बार तो भयसे चीत्कार कर उठते हैं—

सब सिसु जुरि कैं, सकल बहुरि कैं।
अति भय भरि कैं, लहत हहरि कैं॥

किंतु दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर उज्ज्वल हास देखकर, अग्रजको उल्लासवश ताली पीटते देखकर उनका भय जाता रहता है। अवश्य ही वत्सासुरके उस भीषण बृहत् शरीरको देखकर उनके आश्चर्यका पार नहीं रहता। और अब तो सभी बालक एक स्वरसे श्रीकृष्णचन्द्रको साधुवाद देने लगते हैं—

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति।
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४४)

भयो अचंभौ देखि कैं, चकित भए ब्रजबाल।
या खल तें रच्छा करी, धन्य धन्य गोपाल॥

अन्तरिक्षसे परिसंतुष्ट हुए देववृन्द भी श्रीकृष्णचन्द्र-पर सुमनवृष्टि करने लग जाते हैं—

देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४४)

सुर हरषे, नव फूलन बरसे।

वत्सासुरकी चरम परिणति क्या हुई, इसे भी—गोपशिशुओंने तो नहीं—सुरसमुदायने अवश्य देख लिया—

तद्दैत्यस्य महज्ज्योतिः कृष्णे लीनं बभूव ह।
(गर्गसंहिता)

'उस दैत्यके अन्तर्देशसे निकली एक परम ज्योति श्रीकृष्णचन्द्रमें लीन हो गयी।'

वत्सदैत्यको यह योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति देकर श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपशिशुओंके साथ मनोरम बाल्यविहारमें तन्मय होने लगते हैं—

तदनु दनुजदमनो मनोरमहेलालसो लालसो निजसहचरनिकरेषु……। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और अन्तरिक्षचारी विबुधवृन्दकी, सिद्ध-गन्धर्व-किन्नरोंकी वृत्तियाँ लीन होने लगती हैं राम-श्यामके सुयशगानमें। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ समाप्त हो गयी हैं। बस, सबके अन्तस्तलके तारोंपर एक ही झंकार है—

स्याम-बलराम कौं सदा गाऊँ।
स्याम-बलराम बिनु दूसरे देव कौं
स्वप्न हूँ माँहि नहिं हृदय ल्याऊँ॥
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम-ब्रत,
यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ग्यान, सुमिरन यहै,
सूर-प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥

पश्चात्ताप

कितेक दिन हरि सुमिरन बिन खोए।
परनिंदा रसमें रसनाके अपने परत डबोए॥
तेल लगाइ कियौ रुचि मर्दन, बस्त्रहि मलि मलि धोए।
तिलक लगाइ चले स्वामी बनि, बिषयनिके मुख जोए॥
काल बली ते सब जग कंपत, ब्रह्मादिकहू रोए।
'सूर' अधमकी कहौ कौन गति, उदर भरे पर सोए॥

रामायणसे शिक्षा

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

प्राचीन कालमें हमारे पूर्वजोंके जीवनमें सत्य, संयम, शान्ति, सहनशीलता, श्रद्धा, उदारता, राग-द्वेषका अभाव, प्रीति, दया आदि दैवी गुण अत्यधिक मात्रामें थे। उनमें त्यागकी वृत्ति प्रबल थी और अन्यायसे धन प्राप्त करनेका लोभ सर्वथा नहीं था। वे आसुरी वृत्तियों-का दमन करनेमें समर्थ थे। वे आपत्तियोंसे घबराते नहीं थे; आपत्तिकालमें उचित कर्तव्य क्या है, यह निर्णय करनेकी भ्रान्तिहीन सात्त्विक बुद्धि उनमें विद्यमान थी। चाहे जितनी हानि हो, वे उसे स्वीकार करते; किंतु पापवृत्ति या अनुचित पथकी ओर उनका मन नहीं जाता था। ये सब बातें प्राचीन इतिहासके अनेक उदाहरणोंसे सिद्ध होती हैं। इन संयम, सदाचार, शान्ति आदि दिव्य गुणोंका ह्रास क्रमशः हुआ है और अब भी होता ही जा रहा है। विलासप्रियता, स्वार्थ, लोभ, मोह, मत्सर, राग, द्वेष, ईर्ष्या, छल, प्रपञ्च आदि इस समय समाजमें बढ़ रहे हैं। अब सदाचारादि गुण तो उन इने-गिने लोगोंमें मिलते हैं, जो सरोवरमें कमलकी भाँति वर्तमान जगत्के भूषण हैं।

प्राचीन इतिहासग्रन्थोंमें रामायण तथा महाभारत मुख्य हैं। सुशिक्षाकी दृष्टिसे इस कोटिके महान् ग्रन्थों-का संस्कृत और भारतीय भाषाओंमें ही नहीं, विश्वकी किसी भी दूसरी भाषामें मिलना कठिन ही है। इनमेंसे रामायणमें श्रुतिसम्मत धर्मके आदर्शकी प्रतिष्ठा हुई है। सभी देशों और सभी समाजोंके लिये सार्वकालिक सार्वभौम सर्वोपकारक धर्म—सत्य, सदाचार, संयम, सहन-शीलता आदिका स्पष्ट आदर्श रामायणने उपस्थित किया है। रामायणकी शिक्षा हृदयको कोमल बनाती, व्यवहार-को सदाचारमय करती तथा राग-द्वेषका निवारण करके जीवनमें शान्ति एवं प्रेमको प्रकट तथा सुदृढ़ करती है। महाभारतमें निष्काम कर्म, वीरत्व, शुद्ध धारणा बढ़ाने आदिकी प्रेरणा है। दैवी और आसुरी सम्पत्तिका भेद कर लेना, राग-द्वेषका त्याग करना, महाभारतकी शिक्षाके उज्ज्वल रूप हैं। धर्मकी दो विरोधी मर्यादाओंमें संघर्ष उपस्थित होनेपर किसे स्वीकार करना श्रेयस्कर है, यह स्पष्ट करनेवाले अनेक सत्य दृष्टान्त महाभारतमें हैं। भगवद्गीताके सदृश महान् दार्शनिक, समन्वयात्मक और सर्वजनकल्याणकारी प्रकरण महाभारतमें हैं। आत्मा-अनात्माका विवेक, देश-काल-समाजके धर्म, आचार, नीतिसम्बन्धी महान् शिक्षाएँ उसमें हैं। ये सभी गुण समाजकी समुन्नतिके लिये परमावश्यक हैं। किंतु रामायणमें जो अत्यन्त स्पष्ट सत्य, संयम, सद्भाव और नैतिक दृढ़ताका आदर्श उपस्थित किया गया है, वह आजके समाजके लिये अत्यन्त हितकारी एवं सुगम है।

रामायण एवं महाभारतमें जिन महान् पुरुषों एवं दिव्य सती नारियोंका इतिहास है, उनके समयमें उनके सान्निध्यमें रहकर उनके जितने अनुगामियों-को पारमार्थिक अथवा व्यावहारिक लाभ हुआ होगा, उनसे लाखों, करोड़ों गुने अधिक माया-मोहमें बँधे जीवोंका उद्धार रामायण एवं महाभारत ग्रन्थोंके अध्ययन-से हुआ है, हो रहा है और प्रलयपर्यन्त होता रहेगा। भारतके प्राचीन कालकी भव्य झाँकी हमें इनके द्वारा ही प्राप्त होती है। यदि ये महान् ग्रन्थ न होते—कौन कह सकता है कि बौद्धकालमें अथवा उससे भी पूर्व या शक-हूणादि म्लेच्छोंके आक्रमणोंके भयंकर कालमें हमारी दिव्य संस्कृति अन्धकारमें न चली गयी होती। देशकी दीर्घ पराधीनता एवं प्रबल विरोधी संकटोंके मध्यमें भी जो भारतीय संस्कृतिका आदर्श अबतक हमारे हृदयोंमें सुदृढ़ है, यह मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम

एवं श्रीकृष्णचन्द्रके मङ्गल चरितों एवं उनके दिव्य गायक आदिकवि महर्षि वाल्मीकि तथा भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीकी वाणीका ही प्रसाद है।

उपनिषदोंमें 'सत्यं वद' यह उपदेश 'धर्मं चर' से पहले है। सत्य और सदाचार ही धर्माचरणके प्राण हैं। सत्यको अपनाकर ही धर्माचरण करनेपर पारमार्थिक कल्याणकी प्राप्ति होती है। सत्यहीन धर्म समाजके लिये लाभप्रद नहीं हुआ करता। ऐसा धर्म, जिसमें सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं, न तो साधकको शान्ति देता है और न समाजको; बल्कि उससे द्वेषाग्नि बढ़कर समाजोंके परस्पर विरोध एवं व्यक्तियोंके जीवनके कलहपूर्ण होनेकी ही सम्भावना रहती है।

आज इतिहास लिखनेके अनेक कल्पित आदर्श हो गये हैं। अमुक कामकी बातें ली जायँ और अमुक छोड़ दी जायँ; परस्पर विद्वेष बढ़ाने तथा और अनेक उद्देश्योंसे घटनाओंको विभिन्न रूप दिया जाता है। अंग्रेजी राज्यमें जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता था, उसमें सम्प्रदायोंमें कलह कराने और हमारे जातीय गौरवको च्युत करनेका कितना प्रयत्न हुआ था, यह आज कहना नहीं होगा; किंतु आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी रामायणमें ऐसा कोई दोष नहीं। वहाँ 'सत्यं वद' के आदर्शपर ही धर्माचरण-की आदर्श व्यवस्था उपस्थित हुई है। आजके समाजमें धन ही लक्ष्य हो गया है। सम्पत्ति ही सद्गुण एवं सभ्यताकी प्रतीक हो गयी है। यूरोप, अमेरिका और उनके पीछे चलनेवाला समस्त मनुष्यसमाज इसी अर्थ-व्यवस्थाके पीछे आँख मूदकर दौड़ रहा है और इसीसे अशान्ति, अन्याय, अधर्मका राज्य हो गया है। ऐसे समय शान्तिके लिये हमें रामायणके उच्चतम आदर्शपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूजन, उनके नामका जप, उनका ध्यान, रामायणका पाठ, भालपर तिलक, नियमित मन्दिरोंमें दर्शन, ब्राह्मणोंका सत्कार, अतिथिकी सेवा, दानके रूपमें धन न लेना आदि सभी कार्य परम मङ्गलदायी हैं; परंतु आवश्यकता यह है कि हम जीवनको सर्वाङ्गपूर्ण करें। पूर्णरूपसे इस परमार्थ-पथपर स्थिर हों। इसके लिये हमें भगवान् श्रीरामके आदर्श गुण विरक्ति, सत्य, संयम, कोमलता, दया, क्षमा, सहनशीलता आदिको हृदयमें भलीभाँति धारण करना होगा। हृदयमें जबतक कठोरता, दम्भ, असत्यभाषण, असदाचार, मौज-शौककी प्रबल वासना, राग-द्वेष तथा ईर्ष्या आदि दोष रहेंगे, तबतक हम परमार्थ-के मार्गमें सफल नहीं हो सकते। जबतक इन्हें छोड़ा नहीं जाता, धर्माचारके बाहरी नियमोंका चाहे जितनी दृढ़तासे पालन हो, व्यावहारिक शान्ति और पारमार्थिक लाभ यथोचितरूपमें नहीं प्राप्त हो सकते। किये हुए शुभ कर्म निष्फल नहीं होते; किंतु विरोधी वृत्तियोंके मध्य उनका लाभ बहुत ही कम होता है। साथ ही किये हुए पापोंका फल भी भोगना ही पड़ता है। अतएव धर्माचरण अपने पूरे रूपमें प्रतिष्ठित हो, यह आवश्यक है। मर्यादा-पुरुषोत्तमके आदर्श चरितसे हम इस दिशामें शिक्षा ले सकते हैं।

जिसने स्वयं दुःखका अनुभव नहीं किया, दूसरोंके दुःखको वह ठीक समझ नहीं सकता। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामको इसकी मर्यादा रखनी ही थी। इसलिये उन्होंने अपने अधिकांश कालको दुःख-लीलामें ही बिताया। यही दुःख था, जिसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त कोमल एवं दयार्द्ररूपमें हुई। वे कुमारावस्थामें ही महर्षि विश्वामित्रके साथ उनके यज्ञकी रक्षा करने वनमें गये। राक्षसोंके प्रबल समूह यज्ञ विध्वंस करने आये थे। युद्ध करनेमें प्राणोंका भय है, यह जानते हुए भी महर्षि विश्वामित्रके आदेशका उन्होंने पालन किया। वनोंमें भटकनेका कष्ट, कुटिल राक्षसोंसे संग्राम—इनका अनुभव किया उन्होंने। महर्षि विश्वामित्रजीने पहले ही अपनी व्यथा एवं कठिनाइयाँ सुना दी थीं, कठिन श्रम-

साध्य यज्ञमें अन्तराय आ जानेपर महर्षिको कितना खेद होगा, यह ज्ञात हो गया था। यज्ञरक्षाके कार्यको कितनी सावधानी और श्रमसे श्रीरामने पूर्ण किया, यह समझनेकी—मनन करनेको वस्तु है।

राज्यके प्रबन्धमें मर्यादा-पुरुषोत्तमने सदा यह ध्यान रक्खा कि राज्यकर्मचारियों या किसी भी शत्रु या हिंसक प्राणीसे प्रजाको कष्ट न हो तथा सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर जनताको मानसिक या व्यावहारिक दुःख न भोगना पड़े। राजा और प्रजाका सम्बन्ध पिता और पुत्रका सम्बन्ध है। राजाका कर्तव्य है कि वह प्रजाके हितके लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहे। राजा या राजसचिव जब अपने जीवनको विलासी बना लेता है, तब वह अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। श्रीरामका संयमपूर्ण जीवन ही राजाका आदर्श जीवन है और तभी प्रजा ऐसे राजाको पिताके समान पूज्य मान पाती है।

मर्यादा-पुरुषोत्तमकी युवावस्था आयी और जैसे उनके धैर्य, संयम, त्याग, सदाचार तथा गुरुजनोंकी आज्ञा-पालन-प्रवृत्तिकी परीक्षा हो गयी हो। चक्रवर्ती महाराज दशरथजीने अपने प्राणाधिक ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराज बनानेकी सारी तैयारी कर ली, जनताने इस कार्यमें सहर्ष सम्मति दी। पर ठीक समयपर धर्म-संकट उपस्थित हो गया। श्रीरामको चौदह वर्ष वनमें रहनेकी आज्ञा मिली। इस आज्ञाको पाकर उनके कमल-मुखकी क्या स्थिति थी, इस सम्बन्धमें महर्षि वाल्मीकिजीने कहा है—

आहूतस्याभिषेकाय प्रदिष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितः कश्चित् स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

राज्याभिषेकके लिये बुलाया और वनवासकी आज्ञा सुना दी; पर हर्ष अथवा विषादकी एक रेखातक नहीं आयी श्रीरामके मुखपर। वे ज्यों-के-त्यों निर्विकार बने रहे और यह तब, जब कि वनके कष्टोंका वे अनुभव कर चुके थे। उन क्लेशोंसे विश्वामित्रजीके आश्रममें ही परिचय हो चुका था। सार्वभौम साम्राज्यका त्याग और पूरे चौदह वर्षोंके लिये वनवासके कष्टोंकी स्वीकृति कितना महान् त्याग है। हम भारतवासियोंके हृदयमें श्रीरामकी वह त्यागमयी मूर्ति सदा विराजमान रहेगी और तब भी हम त्यागका यह पावन पथ न अपनायें, यह दुःखकी ही बात है।

तरुणावस्था व्यतीत करके नैष्ठिक वानप्रस्थ लेनेवाले जिन नियमोंको स्वीकार करते हैं, लगभग उन्हीं नियमों-का पालन करते हुए वनमें रहनेकी पिताकी आज्ञा थी। पूर्ण ब्रह्मचर्य, विलासकी वस्तुओंका सर्वाङ्ग त्याग, नगर और ग्रामोंमें न जाना, कन्द-मूल-फलादिका आहार, वर्षा-ग्रीष्म-शीतके आघात सहन करना—इन सब कठोर नियमोंका पालन करना था। मर्यादा-पुरुषोत्तमने शास्त्रमर्यादाकी रक्षा की और उस युवावस्थामें ही इन नियमोंका पूरा पालन किया। वनमें जाते समय भगवती सीता और छोटे भाई लक्ष्मणने साथ चलनेका आग्रह किया और उनके आग्रहको स्वीकार करना पड़ा। परम सुकुमारी पत्नीके साथ वनमें जानेपर कठिनाइयाँ बढ़ेंगी ही, यह बात समझी हुई थी; पर पत्नी और भाईके प्रेमानुरोधको वे स्नेहमय तोड़ नहीं सकते थे। अकेला पुरुष किसी प्रकार वनमें रह लेगा, नियमोंका पालन कर लेगा, कष्ट सह लेगा; पर पत्नीके साथ एकान्तमें रहना और संयमका पालन करना—इसके लिये कितना दृढ़ संयमशील मानस चाहिये, यह कोई भी समझ सकता है। ऐसे लोग, जो घरमें पति-पत्नी दो ही हों, इस कठिनाईको और समझ सकते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम और श्रीजनकनन्दिनी पूरे तेरह वर्ष एकान्त काननमें साथ-साथ रहे। आग्रहपूर्वक अपनाने योग्य है यह आदर्श संयम।

वनवासके अन्तिम वर्षमें कष्टोंकी सीमा ही नहीं रह गयी। राक्षसराज रावण श्रीवैदेहीका हरण कर ले

गया और समुद्रसे घिरी लङ्कामें राक्षसियोंके मध्य उन जनककुमारीको अपने मनोबल एवं तेजसे ही अपने शीलकी रक्षा करनी पड़ी। श्रीरामको पत्नीके परित्राण एवं आततायीको दण्ड देनेके लिये भगीरथ-प्रयत्न करना पड़ा। इस आपत्तिकालमें भी श्रीरामके द्वारा कहीं तनिक भी अधर्माचरणको प्रश्रय नहीं मिला। उनका हृदय सतत धर्मपर स्थिर रहा। कीर्तिके लोभसे या मोहवश उन्होंने लङ्काका संग्राम नहीं किया। उनका श्रम शास्त्रकी आज्ञाके अनुरूप और धर्मके लिये ही था। रावणके वधके पश्चात् जब श्रीसीताजी उनके सम्मुख आयीं, उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि रावणके गृहमें रहनेके कारण उनको स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीजानकीजी न केवल शरीरसे, अपितु हृदयसे भी सर्वथा परम पवित्र, नितान्त निर्दोष हैं—इस बातको मर्यादा-पुरुषोत्तम भली प्रकार जानते थे। उन्हें इसमें कोई सन्देह नहीं था; किंतु आदर्शकी रक्षाके लिये, जनसमाजको तनिक भी आशङ्का न रहे तथा मर्यादामें व्यतिक्रम न आये, इसलिये यह कठोरता धारण की गयी। कौन पतिव्रता पतिद्वारा परित्यक्ता होकर जीवित रहना चाहेगी ? भगवती जानकी जलती चितामें प्रविष्ट हुईं और जब प्रज्वलित अग्निकी लपटोंने उनकी पवित्रताकी साक्षी दी, स्वयं अग्निदेव प्रकट हुए श्रीमैथिलीके पातिव्रत्यका प्रमाण देने, तभी श्रीरामने उन्हें स्वीकार किया।

चौदह वर्ष पूरे हुए, भाई और जानकीके साथ श्रीराम अयोध्या लौटे, अयोध्याके सिंहासनपर उनका राज्याभिषेक हुआ; किंतु कुछ ऐसे मन्दबुद्धि पुरुष थे, जिन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तमका श्रीजानकीको अङ्गीकार करना नहीं रुचा। वे इसे मर्यादाविरुद्ध मानने लगे। धीरे-धीरे निन्दा होने लगी और बात श्रीरामके कानोंतक पहुँची। श्रीमैथिलीकी पवित्रताकी साक्षी अग्निदेव दे चुके थे; उनके सम्बन्धमें शङ्का करना ही अनर्थ था; और उस समय वे सगर्भा थीं। किंतु शास्त्रने राजाके लिये पति-पत्नी आदि समस्त निजी सम्बन्धोंकी अपेक्षा प्रजाका रञ्जन ही श्रेष्ठ कर्तव्य बताया है। प्रजाने ही श्रीरामको राजा बनाया है, तब राजधर्मके अनुसार प्रजाको प्रसन्न रखना ही परम कर्तव्य है। प्रजा जब श्रीजानकीका अङ्गीकार अनुचित मानती है, तब पति-पत्नीको समस्त व्यथा सहकर भी अपना राजधर्म पालन करना ही चाहिये। सीताका त्याग हुआ। श्रीरामने अपना जीवन प्रजाके लिये व्यथामय बना लिया। श्रीराम और जानकी दोनोंने यह भयङ्कर कष्ट स्वीकार किया। चौदह वर्षोंके वनवासकी इसके साथ कोई तुलना नहीं थी; यह तो कभी समाप्त न होनेवाला अकल्पित अपार कष्ट था।

निर्दोष, निष्कलङ्क, परम पावन सीता पतिद्वारा त्याग दी गयीं। उन्होंने न तो अपने पूज्य पतिपर कोई आक्षेप किया, न रोष! दोनों अभिन्नहृदय एक-दूसरेकी व्यथा जानते ही थे, कौन किसपर रोष करे। अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, ब्राह्मणोंने श्रीरामसे दूसरा विवाह कर लेनेका अनुरोध किया; क्योंकि पत्नीके बिना यज्ञ नहीं हो सकता था। यज्ञ पूरा हो या न हो, श्रीराम दूसरा विवाह कर नहीं सकते। उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। परित्यक्ता मैथिलीके प्रति उनका भाव स्पष्ट व्यक्त हो गया। एकपत्नीव्रती श्रीराम अपना व्रत भङ्ग नहीं कर सकते। विवश होकर ब्राह्मणोंने स्वर्णमयी श्रीजानकीकी मूर्ति बनवाकर यज्ञ करनेका विधान किया।

महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें जानकीने आश्रय पाया था। महर्षिने सीताजीके दोनों पुत्रों—लव-कुशको श्रीरामचरितके गानकी शिक्षा दी थी। अश्वमेध-यज्ञसे एक मास पूर्वसे ही महर्षिकी प्रेरणासे लव-कुश अयोध्याकी जनताको अपना रामायण-गान सुना रहे थे। यज्ञमें स्वर्ण-प्रतिमा जानकीके स्थानपर साक्षात् जानकीको दीक्षित करानेके लिये महर्षि पधारे। उन्होंने स्वयं

श्रीमैथिलीकी पवित्रताका वर्णन किया। श्रीरामने प्रजासे सम्मति माँगी, महर्षि वाल्मीकिने विशेषरूपसे श्रीसीताकी पावनताका वर्णन सुनाया; पर प्रजा—प्रजाके लोग कुछ कहनेका साहस न कर सके। वे मूक बने रहे। श्रीरामके चरितपर कलङ्ककी आशङ्काका यह मूक अनुमोदन असह्य था; जानकीजीने भगवती पृथ्वीसे प्रार्थना की और पृथ्वीने उनको अपने भीतर ले लिया। कितना दुःखद, कितना कठोर था यह त्याग! कितना निष्ठुर कर्तव्य और उसका कितना पूर्ण पालन हुआ।

भगवान् श्रीरामका यह आदर्श—यह अपार कष्टपूर्ण आदर्श क्या यों ही रक्खा गया जगत्के सम्मुख? उन्होंने कितना महान् क्लेश स्वयं उठाया, कितना त्याग किया—श्रीरामके भक्तोंको इसपर विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीराम और श्रीजानकीके त्यागमय जीवनके अनुरूप भारतीय समाजके आदर्शकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये, समाजको संबल बनानेके लिये हम सबको स्वार्थसे ऊपर उठना चाहिये। भगवान् श्रीराम समाजको त्यागकी भावना, सहनशीलता, सदाचार, संयम, श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुण प्रदान करके भारतका कल्याण करें, यही उनके श्रीचरणोंमें हृदयसे प्रार्थना है।

रूप-रहस्य

(लेखक—श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

यह पृथिवी असंख्य जीवोंकी निवासभूमि है। प्राणि-पर्यायका निर्णय करते-करते, प्राणियोंका वर्गविभाग करते-करते और उन वर्गोंमें पारस्परिक सम्बन्धका निरूपण करते-करते विज्ञान परिश्रान्त हो रहा है। प्राणि-राज्यमें पतङ्गिनी (तितली) का जीवन-इतिहास अति कौतूहलजनक है, अति मनोरम है। रवीन्द्रबाबूने अपनी कवितामें लिखा है—

प्रजापतिर बाड़ी कोथाय जाने ना त केऊ।
समस्त दिन कोथाय चले लक्ष हाजार ढेऊ॥

अर्थात्—

'तितलीका घर कहाँ है, यह कोई नहीं जानता। दिन-भर लाखों-लाखों तरङ्गें कहाँ उठा करती हैं?' स्त्री-पुंशक्तिसे उत्पन्न दो दुर्निरीक्ष्य अणु कब और कहाँ सम्मिलित होते हैं, यह कोई नहीं जानता। नवप्रसूत अण्डकणके अधिष्ठानके विषयमें भी किसीको कोई पता नहीं। विकासके तीसरे स्तरमें इस अण्डकणमें प्राणस्पन्दनका लेशमात्र स्फुरण होता है और उसके पश्चात् एक क्षुद्राकार परिपुष्ट डिम्ब (अण्डा) बनता है, परंतु वह भी प्रायः इन्द्रियोंके लिये अगोचर होता है। अङ्गविकासके पञ्चम स्तरमें जो दृश्यमान होता है, उसको अंग्रेजीमें 'लार्वा' कहते हैं। वही बढ़कर जब कुत्सित आकारमें बड़ा होता है, तब उसका नामकरण केटरपिलर होता है। (Larva and caterpillar) कीड़ा रेंगते हुए चलता है। इसके बाद ही उस प्राणीके रूपका पर्दा खुलने लगता है। यह बड़ा ही विचित्र व्यापार है। अंग्रेजीमें इसके सुन्दर-सुन्दर नाम रक्खे गये हैं। Pupa, Nymph—पुतली-बालिका, परी-कन्या—और अन्तमें Chrysalis! अर्थात् स्वर्णमूर्ति। यह स्वर्णप्रतिमा नाना प्रकारकी रूप-रेखा प्रकाशित करती है। मानो वह इन्द्रजालकी छल-छटा हो! इस प्रकार इस इतिहासके अनेक अध्याय हैं। इन सबके बाद चारु चमत्कार उपस्थित होता है—आविर्भूत होती है एक मनोहारिणी स्वर्गकुमारिका, सुकोमल पंखवाली। उसके दो पंखोंके सुदिव्य वर्णविलास, अचिन्त्य वर्णरेखा, कितनी विभा, कितनी आभा, कितने रंगोंका मिश्रण, कितने रंग, कितने ढंग और कैसे चित्रण होते हैं! मानो तरुणी कवि-बालिकाकी हल्की आलोकमयी कल्पनाकी क्रीड़ा हो! ध्यान-धारणामें लीन थे वृद्ध ऋषि-देवता। उपनिषद्का गहन-गंभीर गान गाते-गाते पतङ्गिनीको देखकर सिहर उठे और सुर भरने लगे—'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः'—अन्य कविकी तो बात ही क्या!

"I have watched you now a full half hour;
Self-pois'd upon that yellow flower,
Little Butterfly."*

तितलीका इतिहास रूप-रहस्य-कविताका एक सुरम्य श्लोक

* अर्थात् हे छोटी तितली! उस पीत कुसुमपर स्वासीन तुझको मैं आधे घंटेतक देखता रह गया!

है, एक आनन्द-छन्द है । पतङ्गिनी (तितली) रूपकी आलेख्य है। यह रूप कहाँसे आता है ? इस रूपका उत्स (स्रोत) कहाँ है ? कौन अनुसरण करता है ? कारण-वस्तु कहाँ है ? कारणमें रूप नहीं है ? कारण निराकार है ? और कार्यमें रूपका सन्निवेश ! आश्चर्यकी बात है ! यह आश्चर्य नहीं, मिथ्या है। कारणमें जो नहीं है, वह कार्यमें नहीं आ सकता।

'असदकरणाद् उपादानग्रहणात्०' इत्यादि कारिकाकी रचना करके तत्त्वज्ञानी सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णने इस तत्त्वको समझा दिया है । पतङ्गिनीका जो कारण है, उसे हम प्राकृत या अप्राकृत जिस किसी भूमिमें देखें, सूक्ष्मरूपमें वह उस पतङ्गिनीके ही समान है । कार्य-पतङ्गिनीका कारण पतङ्गिनी ही है, इसे स्वीकार करनेके लिये विज्ञान हमें बाध्य करता है। यहाँ मानसिक धींगाधींगी—मन-मानी करनेसे काम नहीं चलेगा। वैज्ञानिक विचारको तो मानना ही होगा।

विश्वमय रूपके इतिहासमें पतङ्गिनी (तितली) का स्थान कहाँ है, इसका किञ्चित् आभास दिया गया । तितली एक उदाहरण है । रूपके उदाहरणोंका अन्त नहीं है । विश्व रूपमय है; क्योंकि विश्व दृश्यमान है । दूरकी बात, अन्तरङ्गकी बात पीछे कहेंगे । 'तद्दूरे तद्वन्तिके' रूपका उपहार आसपास दिग्दिगन्तमें सजा हुआ है । रूपका प्रचार इधर-उधर, आगे-पीछे अविरत गतिसे हो रहा है । सर्वत्र राशि-राशि रूप, शत-शत मूर्ति, सहस्र-सहस्र शोभा (चित्र) किस स्रोतसे उठकर, किस अज्ञात रूपके साम्राज्यसे प्रवाहित होकर आ रहे हैं, कौन जानता है ?

वनविहङ्गकुलमें मयूरका रूपैश्वर्य नेत्र और मनको विमुग्ध कर देता है, अभिभूत कर देता है । ऋषि-मुनियोंके शिरोमणि शुकदेवजीने ध्यान-चक्षुसे 'गोविन्दवेणुमनुमत्त-मयूरनृत्यम्'का दर्शन किया था। रवीन्द्रनाथने देखा था, समीप ही कोठेपर पुच्छ-पुञ्जको फैलाकर गर्वसे छाती फुलाये घरका पालतू मयूर नृत्य कर रहा है। उसके पुच्छ-पुञ्जरूपी पटपर सूर्यकी किरणोंकी कितनी वर्णरेखाएँ, कितनी ज्योतिश्छटा अङ्कित होकर, रञ्जित होकर प्रवाहित हो रही हैं, उसका निरूपण करना अति कठिन है । नील, कृष्ण, श्याम, पीत, कपिश आदि अनेक वर्ण हैं । सुन्दर पंख-पुच्छोंको धारण करनेवाला विहङ्ग है । सर्वाङ्गमें मनोरम रंगकी रेखाएँ हैं। वे कितनी हैं, इसकी कौन गिनती कर सकता है ?

इसके पश्चात् कुसुमके सौन्दर्यराज्यको देखिये । वर्णमय, गन्धमय, असीम सुषमा-सम्भार ! जलके नीचे तो केवल पङ्क है ! उस पङ्कसे अङ्कुरित हुई है—सुकोमलाङ्गी किशोरीके सुवलित अति सुन्दर बाहुके उपमानकी एक मनोरम मृणालि-नी, एक नलिनी-लता । उस नलिनीके प्राणका रूप-सौरभ-सम्पद् जो भावमात्र था, वही रूपमें प्रस्फुटित होकर खिल उठा । सुरम्य सरोजशोभा ! कमनीय कमल ! समस्त रूपोंकी परम उपमा ! था तो पङ्क, फूटकर निकला पङ्कज ! यह रूप, वर्ण, सुषमा, यह मधुगन्ध किसके मनमें था ? किसकी कल्पना-में था ? वह क्या 'अरूपमव्ययम्' था ? 'तथारसन्नित्यमगन्ध-वच्च यत्' था ? यह रसका परिहास किसका है ? रूपसे भरपूर अरूप वह कौन है ? महर्षि बादरायणने कौशलपूर्वक वेदान्त-सूत्रमें बतलाया है—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् । (३ । २ । १४)

सब रूपोंका निर्माण वही करते हैं, वही प्रकाश करते हैं । फिर वे सब रूपोंके परे रहते हैं । अतएव उनको अरूप भी कहा जा सकता है । प्रकाशित प्राकृत रूप-समूहके सम्बन्ध-से ही वे अरूप हैं; परंतु सरूपमें अरूपकी बात नहीं कही गयी । इसका विचार इस प्रबन्धमें न हो सकेगा । 'रूपोप-न्यासाच्च' (१।२।२४) इत्यादि सूत्र विचारपूर्वक देखने होंगे ।

इस लेखमें प्राकृत रूपकी ही बात कही जायगी । वन, कानन, उद्यान, उपवनमें, देश-देशान्तरमें नित्यप्रति लाखों-लाखों फूल खिलते हैं । दो घड़ीके लिये रूप-रूपमें प्राण-मनको उन्मादितकर झर पड़ते हैं और सूख जाते हैं । फिर खिलते हैं, फिर टूटते हैं । इस प्रकारका प्रवाह, इस प्रकारकी पुष्प-स्रोतधारा नित्य-निरन्तर बहती चलती है । इसका अन्त नहीं है । अवसान नहीं है । निश्चय ही इस पुष्प-नदीका निर्झर है । एक-एक पुष्प एक-एक रंगमयी तरङ्ग है । एक ही निर्झर दूर-दूरतक दिग्दिगन्तमें शत-सहस्र-पुष्प-प्रणालीको खोल दे रहा है । वह निर्झर एक पुष्प है, वह अनन्त पुष्प है, अशेष कुसुम है, चिरविकसित है; परंतु वह पुष्प है शक्ति, और वह शक्ति ही पुष्प है । पुष्प ब्रह्म है । हम जो कुछ देखते हैं, वह पुष्प-माया है । मोहका वितरण करके छिप जाती है । हम जितने रूप देखते हैं, सभी रूप-माया हैं । निखिल रूपों-का आश्रय है, अनादि आश्रय है । उसका नाम है रूपब्रह्म । नित्य रूपके न होनेपर अनित्य रूप कहाँसे आयेगा ? जो कवि हृदयमें उस नित्य रूपकी सुदूरोपलब्धि करके रूपरचना करते हैं, वही कवि हैं । उस उपलब्धिकी भूमिसे कवि कीट्सने

लिखा है—'A thing of beauty is a joy for ever.' सुन्दर वस्तु सुचिर आनन्दका घर है। एंडिमियोन (Endymion) रूपरसका—प्रणयानुरागका महाकाव्य है। इसकी तुलना नहीं है। निर्बोध समालोचकोंने न समझकर निन्दा की है। शेलीका मनः-प्राण उसी रूपब्रह्मके अनुभवसे भरा था। अन्यथा गुलाबके फूलका ऐसा वर्णन नहीं हो सकता—

And the rose like a nymph to the bath addressed,
Which unveiled the depth of her glowing breast,
Till fold after fold, to the fainting air,
The soul of her beauty and love lay bare.*

और उसी ब्रह्मानुभवके कारण वर्डस्वर्थने गाया है—

To me the meanest flower that blows
Is too deep for tears.†

छोटे-से पुष्पके वक्षःस्थलपर अनन्त पुष्पशक्तिकी क्रिया-की विभावनासे ही विश्वकवि रवीन्द्र बाबूने लिखा था—

कूँड़िर भीतर फिरिछे गन्ध किसेर आशे,
फिरिया आपन माझे,
बाहिरिते चाय आकुल श्वासे
कि जानि किसेर काजे।
कहिछे से हाय! हाय!
कोथा आमि जाई कारे चाई गो
ना जानिया दिन जाय।‡

पुष्पके वक्षःस्थलमें प्रतिष्ठित पुष्प-ब्रह्मकी रहस्यकथाको श्रीमद्भागवतमें प्रकट करते हुए कहा गया है—

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः ॥*

पुष्पका मूर्त्त प्राण पुष्पके बाहर प्रीति वितरण कर रहा है और भीतर भी छिपा है। पुष्पका प्रकाश ही उस अन्तरतमका परिचय है। इत्यादि रहस्यकी बातें भी श्रीमद्भागवतमें कही गयी हैं। (१० । ३० । ८)

हम प्राकृत नेत्रोंसे जो देखते हैं या देख सकते हैं, वही रूप है, वही मूर्त्त है, और सबका सब अरूप और अमूर्त्त है—यह धारणा भ्रममूलक है। इन्द्रियकी अशक्ति तथा शक्तिकी सीमा होनेके कारण बहुत-से सत्य दर्शनेन्द्रियके लिये गोचर नहीं होते। मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ स्थूल वस्तुमें ही व्यापृत रहती हैं, वे स्थूलग्राहिणी होती हैं। सूक्ष्म उनके लिये मिथ्याके समान है।

'सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्'

—इत्यादि अनेकों अदर्शनके हेतुओंका दर्शनविज्ञानने उल्लेख किया है। जो सत्य है, उसे आच्छन्न करके मन सर्वदा ही नाना प्रकारकी विकृत भावना, धारणा और संस्कारके पर्दे बुना करता है। यही प्रधान व्यवधान है। सुख-दुःख, काम-क्रोधके अभिभव या प्रतिघातके द्वारा हम बहुधा विमूढ़ हो जाते हैं। मन और बुद्धिका अभिभव जीवनमें सदा चलता रहता है। विज्ञान और दर्शनने शक्तिकी सीमाका निर्देश किया है। नीलारुण रश्मियाँ अति द्रुतगतिसे तरङ्गित होती हैं; वे अति क्षिप्र और अति तीव्र होती हैं। इनसे अधिक द्रुततर तरङ्गित रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आते। इसका नाम है Ultra-violet। रक्तरश्मियाँ अति मृदु भावसे तरङ्गित होती हैं; उनके तरङ्ग दीर्घ होते हैं, प्रवाह कोमल होते हैं। उनकी अपेक्षा मृदुतर तरङ्गित रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आते। इसका नाम Infra-red है। जो अति बृहत्—विशाल है, उसे हम पूर्णतः नहीं देख सकते। सौर राज्यको किसने देखा है? हम केवल सूर्यको देखते हैं। परमाणुको किसने देखा है? सूक्ष्म-दर्शी विज्ञानने उस परमाणुके प्राणोंके भीतर एक छिपे रासनृत्यके व्यापारका आविष्कार किया है।

* अर्थात् गुलाब स्नानार्थ बुलायी गयी उस अप्सराके समान है जो अपने दीप्यमान उरोजके गाम्भीर्यको अनावृत करती है, आवरणके उपरान्त आवरण खुलते जाते हैं और अन्तमें उसके सौन्दर्य और प्रेमकी आत्मा विमुग्ध अन्तरिक्षके सम्मुख नग्न खड़ी हो जाती है।

† मेरे सामने छोटा-सा-छोटा फूल, जो बहता है, रुदनके लिये अति गम्भीर है।

‡ कलिकाके भीतर गन्ध किसकी आशामें घूम रहा है, अपने ही भीतर घूमकर आकुलतापूर्वक निःश्वास छोड़ता हुआ न जाने किसके लिये बाहर आना चाहता है। वह कहता है—हाय! हाय! मैं कहाँ जाऊँ? मेरा प्रेमी कौन है? अनजानेहीके दिन समाप्त हो जाते हैं।

* पुष्पों और फलोंसे सुसमृद्ध वनलताएँ और वृक्ष अपने भीतर मानो श्रीविष्णुभगवान्‌को प्रकटित कर रहे हैं।

'परमाणुचयान्तरस्थं गोविन्दमादिपुरुषम्'
—इत्यादि बातें शास्त्रोंमें हैं।

रूपदर्शनके मार्गमें बहुत बाधाएँ हैं, अनेक विघ्न हैं, प्राकृतरूपके विषयमें ही यह बात है। परंतु प्राकृतरूप स्थितिहीन, भित्तिहीन है। अप्राकृत नित्यरूप सारे अनित्य-रूपोंका आश्रय है। आकाश शून्य है; उस शून्य सिन्धुको भेदकर ज्योतिर्मय, दिव्य-वर्णमय, अपूर्व सौन्दर्य-वैभवमय इन्द्रधनुषकी परिपूर्ण आकृति विकसित हो उठती है—इसे हम देखते हैं। महाकवि कालिदासने उसे देखकर आनन्दमुग्ध होकर वर्णन किया है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः॥*

कालिदासके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति जाग उठी थी इन्द्रधनुषको देखकर। जयदेवके मनमें इन्द्रधनुषका चारु चित्र स्फुरित हो उठा था भगवान् श्रीकृष्णके सिरपर मोरपंखकी चूड़ा देखकर।

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम्॥†

मेघ, इन्द्रधनुष, मयूर, कृष्ण! मेघके वक्षःस्थलपर भासित होता है इन्द्रधनुष! इन्द्रधनुषकी वर्णच्छटा किस मायामन्त्रसे अङ्कित होती है, अनुरञ्जित होती है मयूरके पंख—पुच्छमें, सारे अङ्गोंमें। और उसी मयूरपुच्छकी चूड़ा बाँधकर सिरपर धारण करते हैं भगवान् श्रीकृष्ण! 'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्'। निश्चय ही एक योगसूत्र है, जिस सूत्रमें सारा विश्व गुँथा हुआ है। उछलता हुआ सिन्धु-सलिल उज्ज्वल रविकिरणोंको आलिङ्गन—धारण करता है, उसीसे मेघोंका सञ्चार होता है। वही मेघ रवि-किरणोंको भेदकर चुपके-चुपके सञ्चित रंगकी डलियाको हरणकर उस रंगको किस प्रकार कुशलतापूर्वक अपने अङ्गमें लेपन कर लेता है। उसीके साथ-साथ नाना प्रकारके रंगोंके फूल-धनु आकाशपटपर खिल उठते हैं।

मयूर मेघको देखकर मतवाला हो उठता है! पुलकाय-मान होकर अपने पंखोंके पुञ्जको फैला देता है। उन्मत्त हो उठता है, अत्यन्त पुलकितचित्त होकर वह स्वर्गविहङ्गम नाचने लगता है। मयूर मेघको सर्वदा ही इन्द्रधनु-रञ्जित देखता है। मयूरकी दृष्टि ध्यानदृष्टि होती है। उसके अङ्ग-पुच्छ-पंख रागतप्त, तरलित होते हैं। वह इन्द्रधनुके अनुरञ्जनके आलोक-चित्रकी रचनाको धारण कर लेता है। इन्द्रधनुषका तथा तपन (सूर्य) का स्वप्न-भंग रंग भिन्न नहीं है। मेघ, मेघधनु और तपन क्या पृथक्-पृथक् हैं? तपन भी तो मेघ ही है! वह है प्रतप्त मेघ, ज्वलन्त मेघ, अग्निमय नीहारिका-पुञ्ज!

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥*
(सप्तशती २। १२)

प्रज्वलन्त मेघराशि आकाशव्यापिनी होती है। दिग्दिगन्तमें दूर-दूरतक झलकती रहती है। 'दिवि सूर्य-सहस्रस्य युगपदुत्थिता भाः।' अप्-तेज-मरुत्—इन तीन महाभूतोंका समष्टि है यह मार्तण्ड। यह कहाँ था? कब आविर्भूत हुआ था? था एक अनन्त अपार महामरुत् सिन्धु। वह मरुत् था आकाशके वक्षःस्थलपर। आकाश निरभिमान होकर छिपा था निराकार निर्विशेष शब्दतन्मात्रमें। 'शब्दमात्रम-भूत् तस्मान्नभः।' तन्मात्र-नामक भूतसूक्ष्म निमज्जित थे तामसिक अहङ्कारके अन्धकारमें। अहङ्कार अपने सत्त्व, रजस् और तमस् वर्णको लेकर महत्तत्त्वके गहन मनमें छिपा था। महत्तत्त्व है अव्यक्तकी प्रथम अभिव्यक्ति। शङ्कराचार्य कहते हैं—

अक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपं सर्वकार्यकारण-बीजत्वेनोपलक्ष्यमानम्।

'अर्थात् महत् तत्त्वम्।' अर्थात् विश्व और विश्वके भीतर ग्रह, नक्षत्र, गिरि, नदी, कीट-पतङ्ग आदि जो

* हे मेघ! यह सामने वल्मीकके ऊपरसे रत्नकान्तिमिश्रित-सा इन्द्रधनुष प्रकटित हो रहा है—जिससे तेरा श्याम तनु, मोरपंखसे सुशोभायमान भगवान् श्रीकृष्णके समान, अत्यन्त ही कान्तिको प्राप्त होगा।

† श्यामसुन्दरके केश चन्द्रकके द्वारा सुचारु मोरपंखके पुञ्जसे चमत्कृत हो रहे हैं; इन्द्रधनुसे अत्यन्त अनुरञ्जित उनका सुन्दर मेघ श्याम रूप आनन्द प्रदान करता है।

* हे देवि! जलते हुए पर्वतके समान अत्यन्त प्रकाशके पिण्डके रूपमें तुमको देवताओंने देखा। तुम्हारी ज्वालासे दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं।

कुछ है, सबका आदि बीज महत्तत्त्व है—the embryonic origin of the Universe। जिस अव्यक्तसे महत्तत्त्वका उद्भव है, वही माया है। सप्तशतीमें लिखा है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया॥
(११।५)

यह माया परब्रह्मकी बहिरङ्गा शक्ति है, अतएव वह तदभिन्न है। क्या तद्-अभिन्न परब्रह्म है? तब तो सर्वनाश हो गया!

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥

हम रूपके भावना-स्रोतमें बहते-बहते, रूप-स्वप्नके पवनमें उड़ते-उड़ते अवारापार अरूपके महासागरमें आ पड़े हैं। कहाँ मेघ, कहाँ इन्द्रधनुष? कहाँ मयूर और कहाँ मयूरकी फुल्लवर्णोज्ज्वल पुच्छराशि? और कहाँ अखिल स्वर्ग-सुषमाके स्वरूप-विग्रह भगवान् श्रीकृष्ण! हम विलोम-प्रणालीके पथसे ऊजड़में आ गये हैं, फिर अनुलोमप्रणालीको ग्रहणकर अनुकूल स्रोतकी धारासे चलनेपर सब कुछ प्रकाशित हो जायगा। तो क्या अरूप ही रूपका मूल है? असम्भव है। जो कारणमें नहीं है, वह कार्यमें नहीं रहता। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है।

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यम्' (१०।३।२४)

और ब्रह्मसंहितामें लिखा है—

अद्वैतमचिन्त्यमनादिमनन्तरूप-
माद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च॥

वह है नवयौवन पुरुष! 'शाश्वतं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।' 'श्यामं हिरण्यपरिधिम्।' उपनिषद्—वेदान्तमें कदाचित् देखनेमें आता है—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' अथवा 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्।' परंतु इसके साथ ही कहा गया है—'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।' जो धीमान् हैं, वे केवल देखते ही नहीं, बल्कि भलीभाँति देखते हैं, अप्राकृत अमृतरूपको देखते हैं। अरूप कुछ नहीं है।

हमने रूप-रहस्यको समझनेकी चेष्टा की, परंतु वह चेष्टा पूरी न हो सकी। समझमें भी नहीं आया। रूपकी, दूरसे दीखनेवाले रूपकी छटासे ही आँखें चकाचौंध हो गयीं, चित्त विमुग्ध हो गया। मुग्ध चित्तमें प्रश्न उठता है—रूप सत्य है या अरूप? रूप तो प्रमाणित है, प्रत्यक्षीकृत है। पर वह सत्य है या मिथ्या, विचार करके देखना होगा। परंतु अरूप वस्तु कुछ है, इसका प्रमाण कहाँ है? हम देख नहीं पाते, इसीसे अरूप है—यह तो कोई प्रमाण नहीं है। देखनेकी शक्ति नहीं है, इसी कारण नहीं देख पाते। शक्तिके स्फुरित होनेपर हम देख सकेंगे। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वरम्।' किसी दिन कोई चक्षु भी दे सकता है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।*

रूपमात्रके पीछे है एक भावशक्ति—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।

चार प्रकारके तत्त्वस्तर हैं—भूतसत्ता, भवत्सत्ता, भावसत्ता, भगवत्सत्ता (1) The physical thing, (2) The physical principle of life, (3) The spiritual principle of govern ance, (4) The living and life-giving substance divine)।

यह अन्तिम तत्त्व ही भगवत्सत्ता है। यह सत्ता रूपमय है। 'द्वे ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च'। भाव और रूप, यही सारी सत्ताके मूल हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। विश्वकवि रवीन्द्रबाबूने इसीको छन्दोबद्ध कर दिया है—

भाव पेते चाय रूपेर माझारे अङ्ग
रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा।
असीम से चाहे सीमार निबिड़ सङ्ग
सीमा चाय ह'ते असीमेर माझे हारा॥†

---

* प्रेमरूपी अञ्जनसे दीप्त भक्तिरूपी नेत्रके द्वारा साधुजन सदा ही अपने हृदयमें तुमको देखते हैं।

† भाव रूपके भीतर स्थान प्राप्त करना चाहता है, और रूप भावके भीतर अपनेको विलीन करना चाहता है। वह असीम सीमामें अतिशय आसक्त होना चाहता है, और सीमा असीममें अपनेको खो देना चाहती है।

मनुष्यका मौलिक धन

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यका मौलिक धन वह है, जो सब समय उसके साथ रहे। कहावत है कि 'हाथके हथियार और गाँठके पैसेपर ही भरोसा किया जा सकता है।' इसी प्रकार हमारे पास सभी समय रहनेवाले धनके ऊपर हम विश्वास कर सकते हैं। ऐसा धन कौन-सा है, जो सदा हमारे पास रह सकता है ? भौतिक धन कभी पासमें रहता है और कभी चला जाता है। उसमें आग लग सकती है, उसे चोर चुरा सकते हैं और राज्य छीन सकता है। फिर वह निर्दोष भी नहीं है। उसकी रक्षाके लिये सदा चिन्ता करनी पड़ती है। जितना अधिक वह बढ़ता है, उतनी ही मनुष्यकी चिन्ता भी अधिक बढ़ती है। इस धनकी वृद्धिके लिये अनेकों लोगोंको कष्ट देना पड़ता है और उनकी शत्रुता मोल लेनी पड़ती है। धनी लोगोंसे दूसरे धनी ईर्ष्या करते हैं और वे सदा उनका विनाश चाहते रहते हैं। आसपासके लोगोंके बुरे विचार धनी मनुष्यके मनमें अनेकों प्रकारकी उपद्रव कल्पनाएँ उत्पन्न कर देती हैं, जिसके कारण वह सदा दुखी रहता है। इसीसे किसी-किसीने अर्थको धिक्कारते हुए कहा—

> अर्थानामर्जने क्लेशं तथैव परिपालने।
> नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं क्लेशकारिणम्॥

'धनके कमानेमें क्लेश, रक्षामें क्लेश, नाशमें क्लेश, खर्च हो जानेमें क्लेश! इस प्रकार क्लेश देनेवाले अर्थको धिक्कार है।' इसीलिये संसारके विवेकी पुरुषोंने अपने-आपको इस धनके एकत्र करनेमें नहीं खोया। महात्मा कबीर कहते हैं—

> साईं इतना दीजिये, जामें आप समाय।
> आप न भूखा मैं रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

यदि संसारके कुछ लोग असाधारण धनी न हो जाते तो आज कम्यूनिज्म (साम्यवाद) की आवश्यकता क्यों रहती ? संसारके धनी देश इस समय कम्यूनिज्मके भूतसे परेशान हैं। धनकी वृद्धिने जितना मनुष्यको सुख दिया, उससे अधिक दुःख दिया। संसारके विश्वव्यापी युद्ध धन और धनके साधनोंकी छीना-झपटीके लिये ही तो होते हैं। धनकी पिपासा रहते हुए इन युद्धोंके बंद होनेकी कैसे आशा की जा सकती है। धनी थोड़े समयतक गरीबोंको बहकावेमें रख सकते हैं; परंतु अन्तमें तो उन्हें अपने धनसे हाथ धोना ही पड़ेगा। तभी उनका कल्याण होगा।

मनुष्यका दूसरा धन, जो उपर्युक्त पहले धनसे श्रेष्ठ है, वह यश, कीर्ति और मान है। मनुष्यके अर्थको चोर चुरा ले सकते हैं, लुटेरे लूट सकते हैं। ठग ठग ले जा सकते हैं और राज्य छीन सकता है; परंतु उसके यशको न तो चोर चुरा सकता है, न लुटेरे लूट सकते हैं। न ठग ठगी कर सकते हैं और न राज्य उसे छीन सकता है। भौतिक धनके समान यह उतना अधिक चिन्ताका कारण नहीं होता। फिर मनुष्यका यश किसी बैंकनोटके समान है, इसे मनुष्य समय पड़नेपर भँजा भी सकता है, अर्थात् वह अपने यशके बलपर पैसा कमा सकता है। रोजगार करनेमें मनुष्यकी साखकी बड़ी महत्ता है। जिस मनुष्यको समाज सच्चा और भला मानता है, उसके ऊपर हर प्रकारका विश्वास करता है। इस विश्वासके बलपर कोई भी सच्चा मनुष्य समाजमें उन्नति कर सकता है। वह अच्छी नौकरी पा सकता है, वह रोजगार कर सकता है और वह यदि पतित हो जाय तो कुछ समयतक ठगी भी कर सकता है। जिस मनुष्यकी दुनियामें अपकीर्ति फैल जाती है अथवा जिसने पहलेसे ही इसे नहीं कमाया होता, वह अधिक दिनोंतक संसारमें उन्नति नहीं कर सकता। बड़े-बड़े राज्य राज्य-कर्मचारियोंके यशके ऊपर चलते हैं। जब किसी शासकका यश नष्ट हो जाता है, तब उसके शासनका भी अन्त हो जाता है। भारतवर्षमें अंग्रेजोंके शासनका अन्त इसी प्रकार हुआ। शस्त्रबलसे किसी देशपर अधिक दिनोंतक राज्य नहीं किया जा सकता। राज्य करनेवाली वस्तु यश, कीर्ति और प्रतिष्ठा होते हैं। इनका सञ्चय धनके सञ्चयके समान धीरे-धीरे होता है। अपने यशके बलपर ही आज नेहरू-सरकार देशका शासन कर रही है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यमें तो शासनकर्ताओंका यश ही सब कुछ है।

परंतु यह धन भी अस्थायी है। जिस प्रकार धनकी वृद्धि चिन्ताका कारण होती है, यशकी वृद्धि भी अत्यन्त चिन्ताका कारण बनती है। एक यशस्वी व्यक्तिसे दूसरे यशस्वी ईर्ष्या करते हैं। वे उसके यशका विनाश करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। यश शक्ति है, यह शक्ति धनकी शक्तिके समान अपहृत की जा सकती है। फिर जिस प्रकार अपनी किसी भूलसे कोई करोड़पति दो दिनोंमें दिवालिया बन सकता है, इसी प्रकार कोई भी यशस्वी पुरुष अपनी किसी भूलसे अपने

सारे यशको खो दे सकता है। वे ही लोग, जो उसका एक समय पूजन करते थे, उसका विनाश कर सकते हैं। संसारका प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थको देखता है। जिस व्यक्तिसे उसका स्वार्थ सिद्ध होता है, उसका वह गुणगान करता है। जिससे उसे हानि होती है, उसकी वह निन्दा करता है। वह पहले व्यक्तिके उन्नत होनेकी और दूसरेके विनाशकी इच्छा करता है। जब मनुष्य यशहीन हो जाता है, तब वह जीना भी नहीं चाहता; जब उसका आदर करनेवाले लोग ही उसकी अवहेलना करने लगते हैं अथवा उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगते हैं, तब वह इतना दुखी होता है कि मृत्युतकका आवाहन करने लगता है। फिर इस प्रकारके व्यक्तिकी मृत्यु भी हो जाया करती है। यशस्वी पुरुषका यश गया तो सब कुछ गया। फिर उसका जीना ही व्यर्थ है। यूरोप और भारतवर्षके राजनैतिक क्षेत्रके अनेकों कार्यकर्ता इसी कारण समयके पूर्व ही मर गये।

यशसे अधिक मौलिक वस्तु ज्ञान है। बाहरी परिस्थितियोंसे मनुष्यका रुपया-पैसा खो सकता है, उसका यश नष्ट हो सकता है; परंतु ये उसके ज्ञानको नष्ट नहीं कर सकते। बल्कि संकटोंके पड़नेसे मनुष्यका ज्ञान और भी बढ़ता है। मनुष्यको नयी परिस्थितिमें पड़नेपर नयी-नयी बातें सोचनी पड़ती हैं। फिर भौतिक सम्पत्ति और यश दूसरोंकी इच्छापर भी निर्भर करते हैं, ज्ञान मनुष्यकी अपनी इच्छापर निर्भर करता है। वह अपने ज्ञानको अपने प्रयत्नसे बढ़ा सकता है। जेलमें रहकर धन और यश नहीं कमाये जा सकते, परंतु ज्ञान कमाया जा सकता है। पुस्तकें पढ़नेको मिलीं तो भला है, न मिलीं तो भी मनुष्य अपने अनुभवोंपर मनन करते-करते नये विचारका अन्वेषण कर सकता है। किसी भी नये विचारका आविष्कार मनुष्यके मस्तिष्कमें तब हुआ, जब वह संसारकी चहल-पहलसे अलग था। पुस्तकें ज्ञान-वृद्धिका साधन अवश्य हैं; पर जिसको ज्ञान-पिपासा नहीं, उसके लिये वे व्यर्थ हैं। कई धनिकोंके पास हजारों पुस्तकें रहती हैं; वे केवल उनकी आल्मारियोंको सजाती हैं, उनके मस्तिष्कको नहीं सजातीं। ज्ञानका इच्छुक व्यक्ति रास्ते चलते-चलते अपने और संसारके लिये उपयोगी बात सोच लेता है। स्टीविनसन महाशयके इस कथनमें पूरा मौलिक सत्य है कि 'सत्य कुएँकी तलीमें अथवा दूरबीनके आखिरी सिरेपर नहीं है, वह तो सत्यान्वेषककी दृष्टिमें है। ज्ञानकी खोज करनेवालेको ज्ञान जहाँ-तहाँ दिखायी देता है, पर ज्ञानकी चाह न रखनेवालेको वह कहीं नहीं दिखायी देता। अतएव ऊपर कही गयी दो वस्तुओंसे अधिक स्थायी और सुलभ वस्तु ज्ञान है। विवेकी पुरुष भौतिक सम्पत्ति और कीर्तिके पीछे न दौड़कर ज्ञानकी खोज करता है।

ज्ञानवान् व्यक्तिके धन अथवा कीर्ति नष्ट हो जायँ तो वह इनके चले जानेपर इतना दुखी नहीं होता कि वह जीना ही न चाहे। वह अपने ज्ञानमें ही मस्त रहने लगता है। ऐसे व्यक्तिके लिये पदोंकी प्राप्ति और उनका चला जाना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। साधारण शासक वर्तमान कालके लोगोंपर अधिकार रखता है और उसका क्षेत्र सीमित रहता है। पर ज्ञानका शासक न केवल वर्तमान अपितु भविष्यमें आनेवाले लोगोंके मनोंपर भी अपना अधिकार रखता है। और उसके अधिकार किसी देशकी सीमासे आबद्ध नहीं रहते। ज्ञानी न केवल अपने-आपको प्रकाशित करता है, वरं सबको प्रकाशित करता है। वह जिस ज्ञान-ज्योतिको अपने मनमें जलाता है, वह उसके सहज प्रयाससे अपने-आप ही दूसरोंके मनोंमें जल जाती है। अपने-आपको धनी बनानेके प्रयत्नसे तो दूसरोंके सिर गरीबी पड़ती है, अपना यश अधिक बढ़नेपर वह दूसरोंके यशकी बाढ़में रुकावट डालता है। पर अपने ज्ञानके बढ़नेसे दूसरोंका ज्ञान भी घटनेके बदले और भी बढ़ता है। वास्तवमें ज्ञानकी वृद्धिकी प्रक्रिया ही ऐसी है कि दूसरोंके देनेकी चेष्टाके बिना उसकी वृद्धि ही नहीं होती। शिक्षा-मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि यदि किसी शिक्षकको भली प्रकार कोई विषय सीखना हो तो वह विषय किसी कक्षाको पढ़ाने लग जाना चाहिये। हम जितना ही अधिक अपने विचारोंको दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं, वे स्वयं हमें उतना ही अधिक समझमें आते हैं। आइन्सटीनको अपने रिलेटिविटीके सिद्धान्तपर तबतक विश्वास न हुआ, जबतक वह किसी दूसरे गणितज्ञको न समझा सका। अपने एक ही मित्रको अपना खोजा हुआ सिद्धान्त समझानेमें उसे वर्षों लगे। वास्तवमें इस प्रकारके प्रयत्नसे ही वह सिद्धान्त स्वयं उसे स्पष्ट हुआ। ज्ञान जितना ही दिया जाता है, उतना ही बढ़ता है। यह उसकी विलक्षणता है। यह देनेवालेको भी सुखी करता है और लेनेवालेको भी। धनके देनेसे दानीका मस्तिष्क ऊँचा उठता है, पर लेनेवालेका नीचा होता है। पर ज्ञानमें देनेवाला और लेनेवाला समान ही रहते हैं; क्योंकि इस लेन-देनमें कोई कुछ नहीं खोता।

यहाँ ज्ञानकी मौलिकतापर विचार हुआ। यदि ज्ञानसे

भी बढ़कर कोई मौलिक वस्तु है तो वह मनुष्यकी सद्भावना है। सद्भावनाका सञ्चय भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार धन, यश और ज्ञानका होता है। यह बात साधारणतः लोगोंको स्पष्ट नहीं होती। धन, यश, ज्ञान स्वतः मूल्य नहीं हैं; इनकी मौलिकता दूसरी वस्तुपर निर्भर करती है। धन, यश और ज्ञान—ये सभी इसलिये मूल्यवान् माने जाते हैं कि वे मनुष्यको सन्तोष देते हैं। यदि वे सन्तोष न देते हों तो इन्हें कोई न पूछे। मनकी दुखी अवस्थामें न तो धन अच्छा लगता है, न यश और न ज्ञान। जब मनुष्यके मनमें सद्भावनाके अभावके कारण अन्तर्द्वन्द्व रहता है, तब मनुष्य इन सभीको त्याग देता है और वह मृत्युका आवाहन करने लगता है। उपर्युक्त सभी पदार्थ मूल्यवान् तमीतक हैं, जबतक मनुष्यकी चेतना स्वस्थ है; पर जब भीतरी और बाहरी मनमें विरोध होनेपर चेतनाके स्वास्थ्यपर ही आघात होने लगता है, तब मनुष्य इन सबका अभिमान त्यागकर शून्यावस्थामें जानेकी इच्छा करने लगता है। यही मनुष्यके पागल हो जानेका कारण होता है। आत्मसन्तोष ही सबसे मौलिक वस्तु है। मनुष्य इस आत्मसन्तोषको भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें खोजता है; परंतु ये सभी कमी-न-कमी उसे धोखा दे डालते हैं। संसारका कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं, अतएव लौकिक पदार्थोंके द्वारा प्राप्त किया हुआ सन्तोष कहाँतक स्थिर रह सकता है।

स्थायी आत्म-सन्तोष मनुष्यको अपनी शुभ कामना, सद्भावनाके अतिरिक्त दूसरी किसी बातमें नहीं मिलता। इसीलिये जर्मनीके प्रसिद्ध दार्शनिक इमेनुअल कान्ट महाशयने कहा है कि 'सद्भावना एक ऐसी वस्तु है जो निरपेक्ष कीमत रखती है (Good willis the only good 'that is good without qualification)। संसारके अन्य सभी पदार्थ नश्वर हैं। संसारकी भलाई करनेकी इच्छा रखते हुए भी कभी-कभी इच्छित परिणाम नहीं होता। डाक्टर रोगीको आरोग्य प्रदानकी इच्छासे ही ओषधि देता है, पर कभी-कभी उसकी ओषधिसे उसकी मृत्यु भी हो जाती है। चीर-फाड़में तो ऐसा कई बार हो जाता है। इस प्रकारकी मृत्युके लिये हम डाक्टरको दोषी नहीं ठहराते। यदि जान-बूझकर कोई डाक्टर जहरीली ओषधि रोगीको दे अथवा वह जान-बूझकर चीड़ा-फाड़ीमें असावधानी करे, तभी हम उसे दोषी ठहराते हैं। अतएव सबके कल्याणकी भावनामात्र मनमें लाना और उसके लिये पूरा यत्न करना, यही भरोसेकी बात है। वास्तवमें मनुष्यका सच्चा धन यही शुभ भावनाका धन है।

जिस व्यक्तिके पास यह धन है, वह दूसरे धनोंके खो जानेसे उद्विग्न-मन नहीं होता। विवेकी पुरुष दूसरे सभी धनोंका सञ्चय और उनका त्याग इस धनकी प्राप्तिमात्रके लिये करता है। पैसेका भला तभीतक भला है, जबतक वह शुभ कामनाओंकी वृद्धिका साधन है। यदि पैसेकी बाढ़से हमारे हृदयमें सद्भावनाएँ न आकर दुर्भावनाएँ आने लगें तो फिर हमें उसका त्याग ही कर देना आवश्यक है। यदि पैसा देनेपर हमें किसीकी सद्भावना मिलती है तो इस सौदेको बुरा कभी नहीं समझना चाहिये! सद्भावना स्वयं धन है और वह भौतिक धनमें उसी प्रकार सरलतासे परिणत हो सकता है, जिस प्रकार यश और ज्ञान भौतिक धनमें परिणत हो जाते हैं। सद्भावनासे यशकी प्राप्ति होती है और यशसे अर्थकी। एक ही सद्भावनाका व्यक्ति अपने उदाहरणसे लाखोंका भला करनेमें समर्थ होता है। भलाई भी उसी प्रकार संक्रामक है, जिस प्रकार बुराई है। ज्ञानके प्रसारके समान सद्भावनाका प्रसार भी सहज रूपसे होता है।

ज्ञानको हमने स्वतः मूल्य नहीं कहा। ज्ञान सद्भावनाका साधन अवश्य है; पर कितने ही पढ़े-लिखे विद्वान् कहानेवाले लोग सद्भावनाकी खोज न कर पैसा-रुपया अथवा यशकी खोजमें ही लग जाते हैं। संसारका जितना लौकिक ज्ञान आज बढ़ा है, उतना पहले कभी नहीं बढ़ा था; परंतु सद्भावनाके अभावमें यही ज्ञान आज संसारको विनाशोन्मुख बना रहा है। वैज्ञानिकोंने अणुको बड़े परिश्रमसे खोजा। पर इस महाशक्तिकी खोज करके मनुष्य सुखी न होकर और भी अधिक दुखी हो गया है। संसारके सभी लोगोंको भय है कि न जाने अणुबम कब उनका विनाश कर डालेगा; इसके आविष्कारके कारण संसारके धनी और अधिकारीवर्ग तो चैनकी नींद सो ही नहीं सकते। अब हाइड्रोजन-बमके बनाने और मृत्यु-किरणका आविष्कार करनेमें वैज्ञानिक लोग लगे हैं। यह सारा अनर्थ सद्भावनाके अभावके कारण ही हो रहा है।

फिर सद्भावनाकी कमी पागलोंकी संख्याको बढ़ाती है। इस पागलपनकी ओषधि न तो मनुष्यका धन है और न यश तथा ज्ञान ही है। विशाल ज्ञानके रहते भी आज जैसा पागलपन हमें राष्ट्रोंमें और समाजमें दिखायी पड़ता है, वैसा ही व्यक्तिमें भी वर्तमान है। स्वयं ज्ञानमें वह बल नहीं कि

वह मानव-मनके विभिन्न भागोंमें समन्वय स्थापित कर सके। भौतिक ज्ञान मनुष्यको शान्ति नहीं देता, सद्भावनाका अभ्यास ही उसे शान्ति देता है। जब ज्ञानसे मनुष्यके अभिमानकी वृद्धि हो जाती है, तब वह उसे विक्षिप्तताकी ओर ही ले जाता है। जो व्यक्ति कहने लगता है कि मेरे समान दूसरा पण्डित कोई नहीं, वह एक दिन पागलखानेका निवासी बन जाता है। ज्ञानका अभिमान होनेपर यदि संसारसे मान न मिला तो ज्ञान भी दुःखका कारण बन जाता है। मनुष्य देखता है कि मूर्खोंका तो सम्मान होता है और ज्ञानवान्‌की कोई पूछ नहीं। इस दुःखसे पीड़ित होकर वह आत्म-विस्मृतिकी भावना करने लगता है और इस प्रकार अपनी चेतनाको ही, जो वास्तवमें मौलिक वस्तु है, खो देता है।

सद्भावनाकी उपस्थितिमें उपर्युक्त बातें नहीं होतीं। सद्भावनासे जिसका हृदय भरा-पूरा है, वह दूसरे प्रकारके धनकी इच्छा नहीं रखता। भगवान् बुद्ध, ईसा, सुकरात स्वयं फकीर थे। उनके शिष्य बड़े-बड़े धनी लोग भी थे। पर उन्हें उनके धन लेनेकी इच्छा नहीं हुई। जब हालैंडके महान् दार्शनिक स्पैनोजासे उसके मित्रने मरते समय अपना सभी धन लेनेको कहा तो उसने उस मित्रको सन्तोष देनेके लिये ले लिया और फिर उसे उसके सम्बन्धियोंमें ही बाँट दिया। चौदहवें लुईने उसे चौदह हजार फ्रैंककी पेन्शन देनी चाही। स्पैनोजाने कहा मैं इतने धनका क्या करूँगा। मेरा तो खर्च बहुत थोड़ा है और वह मुझे मिल ही जाता है। इन महान् पुरुषोंका आज संसारमें नाम है। उनके पुण्यसे आज हम जीवित हैं। यदि वे न हुए होते तो आपसकी द्वेषाग्निसे संसार भस्म हो गया होता। उनकी सद्भावनाओंने केवल उन्हें ही पुनीत और पूज्य नहीं बनाया वरं हमें भी वे आज भला बननेकी प्रेरणा देती हैं। अतएव इस धनसे बड़ा और कौन धन कहा जा सकता है।

मनमें सद्भावनाके आते ही मन शान्त और स्थिर हो जाता है। सद्भावना मनुष्यमें आत्मविश्वास और मानसिक दृढ़ता लाती है। अपने-आपकी उन्नतिके विषयमें सोचते-सोचते जब मनुष्यका मन चिन्ताग्रस्त हो जाता है और उसे अपने चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी देने लगती है, तब उसकी सद्भावनाएँ ही उसके काममें आती हैं। मनुष्यकी सद्भावनाएँ उसका सञ्चित पुण्य है, जो संकटके समय काम आता है। ये ही मनुष्यकी सच्ची मित्र हैं। यदि किसी व्यक्तिने दूसरे व्यक्तिको उसके संकट-कालमें सहायता दी है तो सहायता पानेवाला व्यक्ति भले ही अपने उस सहायककी विपत्तिके समय सहायता न करे, परंतु उसका मन ही उसकी सहायता करता है। बदला पानेके निमित्त सहायता करना सद्भावनाकी वृद्धि नहीं करता, निरपेक्ष सहायता ही सद्भावनाकी वृद्धि करती है। इसका परिणाम अपने-आपकी इच्छाशक्तिका दृढ़ होना और सब प्रकारकी विपत्तिमें शान्तमन रहना होता है।

सद्भावनाका मनुष्यकी कार्यशीलतासे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनुष्यके विचार ही उसकी क्रियाके रूपमें परिणत होते हैं। जिन बातोंके सम्बन्धमें मनुष्य दिन-रात सोचता है, उन्हींकी प्राप्तिके लिये वह कार्य भी करने लगता है। धनका इच्छुक धन-प्राप्तिके लिये, मानका इच्छुक मानकी प्राप्तिके लिये, ज्ञानका इच्छुक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सहज ही चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार सद्भावनाका इच्छुक सहज ही सद्भावनाका सञ्चय करता है और तदर्थ प्रयत्न करता रहता है; परन्तु मनुष्यकी बाहरी सफलतासे उसकी सद्भावनाका तौल नहीं करना चाहिये। यदि सद्भावना किसी बड़े कार्यमें प्रकाशित नहीं हुई, तब भी वह महान् वस्तु है। सद्भावनाकी मौलिकता भावनामात्रमें है। अतएव जितनी बार कोई मनुष्य उसका स्वागत करता है, उसकी अनुभूति करता है; उतना ही वह अपने जीवनको मौलिक बनाता है। किसी भावनाकी बार-बार अनुभूति करनेसे वह मनुष्यका स्थायी भाव या स्वभाव बन जाती है। फिर यह स्थायी भाव अनेक कार्योंका कारण बनता है। यदि अनुभव की जानेवाली भावना भली हुई तो तज्जनित स्थायी भाव भी भला होगा और यदि वह बुरी हुई तो स्थायी भाव भी बुरा होगा। मनुष्यके स्थायीभाव निष्क्रिय नहीं रहते। वे सदा सक्रिय रहते हैं। वे मनुष्यकी किसी काममें लगनको बढ़ाते अथवा घटाते हैं। वे ही उसकी रुचियोंके आधार हैं। स्थायी भावोंके अनुसार मनुष्यकी विचारशैली बनती है। अतएव स्थायी भाव भले हैं तो आचरण अपने आप ही भला होगा। मनुष्यके चरित्रका बल उसके स्थायी भावोंमें है। जिस मनुष्यके स्थायी भाव दृढ़ नहीं होते, उसके चरित्रका भी कोई भरोसा नहीं। वह चलित मनका व्यक्ति होता है जो कभी कुछ और कभी कुछ कर बैठता है। अतएव स्थायी भावोंको बनाना अपने-आपको निश्चित चरित्रका व्यक्ति बनाना है। यह अपने-आपपर भरोसा प्राप्त करनेका उपाय है।

महान् चरित्र एक दिनकी वस्तु नहीं, यह अनेक दिनके

प्रयत्नका फल है। एक-एक बूँद जुड़कर समुद्र बनता है, एक-एक पैसा जोड़कर मनुष्य करोड़पति बनता है, इसी प्रकार एक-एक सद्भावनाके परिणामस्वरूप मनुष्य महान् चरित्रको प्राप्त करता है। सबसे कठिन काम अपने-आपपर नियन्त्रण प्राप्त करना है, यह काम एक दिनमें नहीं होता। यह दीर्घकालके प्रयत्नका फल है। इसके लिये प्रतिदिनके सतत अभ्यासकी आवश्यकता है। आत्मनियन्त्रण उसी व्यक्तिको प्राप्त होगा, जो अपने आपको दूसरोंके लिये खोये रहता है, जो सदा सबके लिये शुभ कामना भेजता रहता है। अतएव प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही सद्भावनाका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसीसे जीवन सफल होगा और सच्चे धनकी प्राप्ति होगी।

रोग और मन्त्र

(लेखक—कविराज श्रीप्रतापसिंहजी)

मैं बालकपनसे ही जप करनेका अभ्यासी हूँ। जब मैं छोटा था, अपने पिताजीको गायत्रीका जप करते देखता था। इससे मुझे भी जप करनेकी ओर आकर्षण हो गया। प्रतिदिन जप एवं पाठ करना और गीता आदिका नियमित रूपसे अध्ययन करना जीवनकी एक साध बन गयी।

जीवनमें अनेक बार जप, तप, योग, साधन आदि किये; पर इस बारके रोगमें जो मन्त्रका प्रभाव देखा, वह आश्चर्यजनक है।

घटना इस प्रकार है—मैं राजस्थानके आयुर्वेदिक विभागका अध्यक्ष नियुक्त हुआ, और पहली बार ही मुझे बीकानेर और जोधपुरमें ग्रीष्मकालीन दौरा करना पड़ा। यहाँकी भयानक गर्मी और लूने अपना काम किया और मैं २५ अप्रैलको उदयपुर पहुँचते ही अंशुघातसे पीड़ित हो गया। प्रारम्भमें दो-तीन दिनोंतक तो व्याधिका प्रभाव अधिक नहीं रहा, पर २७ अप्रैलको उसने उग्ररूप धारण किया और अत्यन्त तीव्र सर्वाङ्ग-दाह, उग्रज्वर और मूर्छाने एक ही साथ शरीरपर प्रबल आक्रमण किया। सन्निपातज्वरके लक्षण भयङ्कर रूपसे व्यापक हो गये। चिकित्सक घबरा गये और विविध प्रकारकी व्यवस्था करने लगे। मुझे सम्भवतः एक बार होश आया और मैंने सब चिकित्साएँ रोक दीं एवं आदेश दिया कि मुझे बिना चिकित्साके ही मरने दो।

इतनेमें ही मैं फिर मूर्छित हो गया। जब मुझे होश आया, रात्रिका अधिकांश बीत चुका था और मुझे एक स्वप्न आया। मैंने देखा, एक काले रंगकी भयङ्कर मूर्ति हाथमें नंगी तलवार लिये मुझपर वार करनेके लिये दौड़ी आ रही है और मेरे समीप आनेपर 'तुम मुझको मार नहीं सकते, मैं महामृत्युञ्जयका पाठ करता हूँ' यह कहते हुए मैंने नीचे लिखे महामृत्युञ्जयका पाठ करना प्रारम्भ किया। यह तो स्मरण नहीं कि कितने मन्त्रोंका जप किया; किंतु इतना याद है कि कुछ ही मन्त्रोंका जप करते ही वह मूर्ति पीछे हट गयी और मुझे एकलिङ्ग महादेवके दर्शन हुए। मेरा ज्वर उसी दिन कम हो गया और मैं अपने आपको स्वस्थ अनुभव करने लगा। यद्यपि अभी दुर्बलता बहुत है, किंतु शरीर निर्मल हो गया है।

मन्त्र यह है—

'अघोरेभ्योऽपि घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते, अस्तु तत्पुरुषाय विद्महे धियो रुद्रः प्रचोदयात्।'

आशा है 'कल्याण'के पाठक इस मेरे रोगके अनुभवसे लाभ उठायेंगे।

आनन्दाम्बुनिधिको आवेदन ?

'सिरस' सयानो नाहिं, मन,मैं विचार उठो, मिलिबो सहज जग-नाथ राम सों न है।
बिधि विष्णु सिवहू के ध्यान मैं न आवै जौन, जपी तपी जोगी मुनि मन मारे मौन है॥
मिलिबो न मिलिबो कृपालु ! है तिहारे हाथ; मेरे हौ अधार, जैसे प्रान हेतु पौन है।
ऊँचनि गुजर बिनु नीचन के होत नहीं, नींव बल धाम खड़ो, कहतो न कौन है॥

बाँस बनी बाँसुरी न जानै स्वरभेद नेकु; निकरैगो गीत सोई, जन जो बजावैगो।
वायु की लहर मैं न निज बल बोलिबो है, रेडियो मैं साधु सब्दसोध सुधी भावैगो॥
बारिद बरसि सकै बिनु सिंधुजल कहाँ, मन मति गति नाहिं, नाथ कौं रिझावैगो।
करिबो विनयवर 'सिरस' की सक्ति नाहिं, अवर सवर कैसे सामवेद गावैगो॥

बालकपने सों अपनोई नाथ मान्यो तुम्हैं, जौवन उमंगहू मैं रंग राउ पागतो।
प्रौढ़पनो गुन्यो गुन गौरव गोविन्द गीत, विषय-बिलास परो तऊ जोर जागतो॥
बूढ़हु वयस मैं सनेह कम परो नाहिं, कैसे ना सनाथ करौ द्वार दान माँगतो।
सर सों सुखातो सिंधु सुन्यो ना 'सिरस' ऐसो, प्रभु की दया तामैं दाग अब लागतो॥

जुवक है जोर जोरयों जुवतीन संग सदा, अंग मैं अनंग रंग चढ़ो, बुद्धि लूटै है।
'सिरस' कठोर लोह रगर सों जातो घिस, इंद्रिन बिलास रोग लाय देह कूटै है॥
सक्ति हीन दीन भयों जुवा मैं जरठ, हाय ! बिबस भएहूँ पै न भाव भोग टूटै है।
राघव ! न घाव भरो विषय कौ, बूढ़ो भयों, जरि गई रसरी, पै ऐंठन न छूटै है॥

'सिरस' दीन दूरि, तऊ दीनानाथ ध्यान देवौ; सुनौ हाल मेरो, कैसे कलुष कमात हौं।
दामिनी सी कामिनी कौं गहौं पै न गहि सकौं; लोभ छन छन देत, लेत ना अघात हौं॥
मोह मद मान सान सनो है 'सिरस' सदा, अधोगतिदायी अभिमान मैं घमात हौं।
बिसद विलास वास बपु बल बाला वित्त, बदरी बिलोकि दरी-दुनिया समात हौं॥

जग-जाल तोरि तिनुका सों, मोरि मन मंद, द्वंद दुख दोषन सों दूरि, मल धोवैगो।
प्रेम अनुराग जगो प्रभु पद नव नित्य, छन छनहूँ मैं अनन्य भक्ति बीज बोवैगो॥
सेवक 'सिरस' सनमुख सीतानाथ रहि, अम्बुनिधि-आनंद कौं जुग-जुग जोवैगो।
द्रवत दयालु ! दीन पै न देर करौ नेक, करुनानिधान राम कबौ ऐसो होवैगो॥

कामके पत्र

(१)

ईश्वरपर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। व्यापारिक उलझनोंके कारण आपकी जो मानसिक स्थिति हो गयी है, वह अवश्य ही शोचनीय है। योजनाओंकी चतुर्दिक् असफलताओंसे निराशा और सन्देहका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। आप आज चारों ओर निराशा देखते हैं। चित्तमें उदासी, विषाद है; समीपर सन्देह है कि लोग मेरी उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं और आपके मुँहसे निराशाभरे शब्द निकलते हैं। यह सब ठीक है, पर इस स्थितिको सुधारना है। निराशाभरे भावोंका पोषण करने, निराशाभरे शब्दोंके उच्चारण करने तथा अपनेको एवं दूसरोंको कोसनेसे स्थितिमें सुधार नहीं होगा; ये तो मानसिक दुर्बलताके लक्षण हैं। इनसे संकटोंकी श्रृङ्खला टूटती नहीं, वरं और भी दृढ़ हो जाती है। इनके बदले आप पवित्र रचनात्मक भावोंको मनमें लायें और वैसे ही शब्द उच्चारण करें। ऐसा करनेसे बल और उत्साह आयेगा, संकटोंको झेलनेकी शक्ति आयेगी तथा संकटोंसे तरनेका मार्ग दिखायी देगा।

श्रीभगवान्‌पर विश्वास कीजिये। आप निश्चय मानिये, भगवान्‌ने आपके अंदर वह शक्ति दे रक्खी है, आपको वह साधन प्रदान कर रक्खा है, जिसके प्रयोगसे निराशाकी जगह निश्चित आशाका सञ्चार हो सकता है और असफलता सफलतामें परिवर्तित हो सकती है। वह शक्ति या साधन है—'ईश्वरमें विश्वास रखकर सावधानीके साथ अपने कार्यमें लगे रहना।' ईश्वरमें विश्वास करनेपर ईश्वरीय नियमोंकी रचनात्मक शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं और मनुष्य अपने-आप निराशापर विजय प्राप्त करके असफलताके मूल कारणको भी समूल उखाड़ फेंकनेमें समर्थ होता है।

दुखी होने, कोसने, निराश होने, पागलोंकी तरह प्रलाप करने, अपशब्दोंके उच्चारण करने और कार्यमें मन लगाकर प्रयत्न न करनेसे तो उलझनें और भी बढ़ जायँगी। अतएव मेरी आपसे विनीत प्रार्थना है कि आप ईश्वरमें विश्वास करके अपनेको समर्थ बना लें और आशाभरे भावोंका पोषण तथा आशाभरे शब्दोंका उच्चारण करें; फिर दुर्भाग्य आपसे दूर भाग जायगा और आप अपने आध्यात्मिक स्तरकी भी रक्षा कर सकेंगे।

ईश्वरका रचनात्मक विधान सदा-सर्वदा हमारे संकट-नाश और अभ्युदयके लिये प्रस्तुत है। आप इस सत्यको स्वीकार कीजिये; फिर देखिये, आपकी उलझनें किस आसानीसे सुलझती हैं। संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलताके भावोंका पोषण करके तथा बार-बार ऐसे शब्द बोलकर आप उन बीजोंको बो रहे हैं जिनके फल भी यही—संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलता ही होंगे। इनसे बचिये और ईश्वरकी महान् कृपा और उनके स्वाभाविक प्रेमपर विश्वास करके उन्हींके बीज बोइये। फिर उनसे वैसे ही ईश्वरकृपामें और उनके प्रेममें अनन्त विश्वासरूपी महान् फल प्राप्त होंगे।

यदि आप जीवनमें सुख, शान्ति, आनन्द, सफलता और ईश्वर-प्रेम चाहते हैं तो बार-बार इन्हींका चिन्तन कीजिये और इन्हीं शब्दोंका उच्चारण कीजिये। दुःख-अशान्ति, असफलता आदिकी चर्चा और चिन्तन ही बंद कर दीजिये। जो कुछ हो चुका है, उसे भगवान्‌के मङ्गलविधानका परिणाम मानकर अपने मनमें उसका रूप बदल दीजिये, जिससे आपमें उत्साह, उल्लास और कार्यशीलता आ जाय एवं आपका भविष्य उज्ज्वल तथा सुखपूर्ण हो जाय।

ईश्वरमें आपका विश्वास जितना ही दृढ़तर होगा, आपमें और ईश्वरमें उतना ही अधिक निकटका सम्बन्ध

होगा और आप उतने ही सुख-शान्ति तथा आनन्दका अनुभव करेंगे।

ये बातें मैं केवल आपको ऊपरी सान्त्वना देनेके लिये नहीं लिख रहा हूँ। यह परम सत्य है। कोई भी मनुष्य इसका प्रयोग करके देख सकता है। आप साहस मत छोड़िये और निराश न होइये। भगवान्‌की अपार और अटूट शक्तिपर विश्वास करके कार्योंको सुलझानेमें जुट जाइये। आपको अपने-आप चमत्कार-पूर्ण प्रकाश मिलेगा, पथ मिलेगा और आप अनायास ही कष्टकी कँटीली और जहरीली भूमिको पार करके सुख-शान्तिसे पूर्ण अमृतमयी भूमिमें पहुँच जायँगे।

विपत्तिसे घबरानेवालेकी विपत्ति बढ़ती है, घटती नहीं। विपत्ति तो उसीकी नष्ट होती है, जो विपत्ति-विदारण भगवान्‌के बलपर विश्वास करके विपत्तिको भगानेमें जुट जाता है।

विपत्ति आती ही इसलिये है कि मनुष्य पहले अपने विश्वास करने योग्य वस्तुके चुनावमें भूल करता है। वह यदि पहलेसे ही क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखदायी भोगोंपर विश्वास न करके ईश्वरमें विश्वास करता तो विपत्ति आती ही नहीं। पर जो हो गया, सो हो गया। अब भी असत्यका त्याग करके सत्यको स्वीकार कर लिया जाय तो सारी उलझनें सहज ही सुलझ सकती हैं।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'

(२)

भगवान्‌का लीलाविलास

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद!

आप आस्तिक-परिवारमें उत्पन्न हुए, यह सौभाग्य-की बात है। इक्कीस वर्षकी आयुतक आप पूर्ण आस्तिक रहे, ऐसा होना परिवारके अनुरूप ही था। बादमें आपकी श्रद्धा मूर्तिपूजापरसे हट गयी, सगुण-उपासना भी बुद्धिको नहीं रुची और निर्गुण-उपासनामें भी मन-बुद्धिका प्रवेश न हो सका। इसका प्रधान कारण है—वैसे सत्सङ्ग और स्वाध्यायका अभाव। आयु और शिक्षा बढ़नेके साथ ही विचारशक्ति भी जाग्रत् होती है; उस समय अपने भीतर जो संशय एवं वितर्कपूर्ण प्रश्न उठते हैं, उनका समाधान होना ही चाहिये। तभी श्रद्धाके लिये सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है। आपने अपने भीतरकी इस प्यासको सत्संग और स्वाध्यायके जलसे बुझा दिया होता तो यह अशान्ति नहीं आती। इस सम्बन्धमें मेरी सम्मति यही है कि आप गीताको मनो-योगपूर्वक पढ़ें। मनन करें। सम्भव हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्वविवेचनी' का मनन करें, अनुशीलन करें। साथ ही किसी ज्ञानी महापुरुषकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी शङ्काओंका समाधान करायें। सत्सङ्गसे आपकी खोयी हुई शान्ति चिरस्थायिनी होकर लौट आ सकती है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

आप यह अनुभव न करें कि मुझमें नास्तिकतापूर्ण विचार आ रहे हैं। विचारोंको उद्बुद्ध होने दें। शङ्काएँ उठती हैं तो उठने दें। प्रश्न और जिज्ञासाका उदय होना उर्वर मस्तिष्कका लक्षण है। इससे आपका उत्साह बढ़ना चाहिये। अवसाद अथवा शैथिल्य क्यों आये?

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक वस्तुको समझ ही ले—यह धारणा भूल हो सकती है; परंतु प्रत्येक मनुष्य अपनेको, अपने 'स्व' या आत्माको समझे—यह उसके लिये अनिवार्य है। इस ज्ञानका वह अधिकारी है। इसे समझे बिना सच्ची शान्ति कहाँ?

आपकी बुद्धि निर्गुण तत्त्वको मानती-सी दीखती है; परंतु वास्तवमें मानती-जानती कुछ नहीं। मानती-जानती होती तो निश्चय ही अपने 'स्व' में उसको असीम शक्तिका साक्षात्कार होता।

जिसमें प्रत्येक वस्तुको मानकर चला जाता है, उस सिद्धान्तसे आप सहमत नहीं, आप अनुसन्धानके द्वारा सत्यका निर्णय करना चाहते हैं—यह ठीक है; परंतु

सत्यको मानना ही पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस सत्यका अनुभव करता है; अतः आत्मसत्ता सबको प्रत्यक्ष है। आत्माको मानकर चलना अनुचित नहीं। आत्मा है या नहीं? यह प्रश्न नहीं उठता। आत्मा क्या है? इस प्रश्नका समाधान अपेक्षित है। इसका समाधान होते ही सब कुछ समझमें आ जाता है। गीताने थोड़े-से शब्दोंमें ही इस प्रश्नका उत्तर दिया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

'ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे परे (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे पर 'वह' (आत्मा) है।'

इस श्लोकका मनन करें। आत्मा बुद्धिसे भी परे है। वही बुद्धिका प्रकाशक और साक्षी है। विशुद्ध आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्वके दो नाम हैं।

परमात्म-तत्त्व-शोधनकी चिंता होनी ही चाहिये। जो मनुष्य विचारवान् होकर आत्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्वकी शोध नहीं करता, उसे आत्म-हननका दोष लगता है, वह घोरतर अन्धकारमें पड़ता है।

जबतक आपका मन सगुण या निर्गुण किसी भी तत्त्वमें रमता या उसकी ओर आकृष्ट होता है, तबतक आपको अपनेमें नास्तिकताका आरोप नहीं करना चाहिये। सच्चा नास्तिक भी निर्द्वन्द्व रहता है। आपके मनमें सगुण-निर्गुण आदिके प्रश्नको लेकर जो आकुलता छा रही है, वह नास्तिकको प्रभावित नहीं कर सकती। नास्तिक जडवादी होता है। आस्तिक आत्मचैतन्यके प्रकाशका अनुभव करता है। आप नास्तिक कदापि नहीं हैं।

मनुष्य क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्नको और व्यापक रूप भी दिया जा सकता है। जगत्के सम्पूर्ण जीव क्यों उत्पन्न होते हैं? जैसे वृक्ष और बीज अनादि हैं, वैसे ही जागतिक जीवोंके जन्म-मरणकी परम्परा भी अनादि है। बीज बोया गया, इसलिये वृक्ष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न वृक्षमें नूतन बीज उत्पन्न हुए। उन बीजोंके कारण वृक्षके और भी अनेक जन्म हो सकते हैं। बीज जलनेपर ही वृक्षोत्पत्तिकी परम्परा रुक सकती है। इसी प्रकार कर्मबीज ही जागतिक जीवोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं। उत्पन्न हुए जीव पुनः नूतन कर्मबीजका सञ्चय करते हैं, जो पुनः उन्हें जन्म-मरणकी परम्परामें बाँधते हैं। ज्ञानाग्निसे, या भगवान्‌की शरणागतिसे उन बीजोंको जलाये बिना बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता।

मनुष्य जागतिक जीवोंमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान और कर्मके जो प्रकृष्ट साधन मनुष्यको प्राप्त हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतः मनुष्य क्यों उत्पन्न हुआ? इस प्रश्नका महत्त्व भी बढ़ जाता है। कर्मफल-भोगके साथ ही सत्कर्म, भगवद्भजन अथवा तत्त्वज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्ति किंवा मुक्तिलाभ करना ही मानव-जन्मका महान् उद्देश्य है। इस उद्देश्यको साधनेके लिये ही मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मानव-शरीर मोक्षका द्वार है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

आगे कहते हैं—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इसलिये मानव-जीवनका लक्ष्य है—आत्माको जानना अथवा परमात्माको प्राप्त करना। ज्ञान और भक्ति—ये ही इस लक्ष्यके परम साधन हैं। उपासनासे तत्त्व-ज्ञान और भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति दोनों सध जाते हैं। अतः यही सबके लिये सहज और सुगम साधन है। मनुष्य अपना जीवन कैसे बिताये? इसका उत्तर गीताके शब्दोंमें इस प्रकार है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गीता १६ । २४)

क्या करना, क्या न करना—यह शास्त्र बताते हैं। शास्त्रकी आज्ञा है—'असत्य तथा असत्-कर्मोंसे दूर रहो। सत्य और सदाचारका पालन करो।' शास्त्रके इन विधि-निषेधोंका पालन करते हुए मनुष्य भगवत्परायण रहे। भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ प्रत्येक कार्य करे—

'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'

इस प्रकारका शास्त्रीय कार्यमात्र भगवत्पूजा है।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'
(गीता १८ । ४६)

'अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्‌को पूजकर मनुष्य सिद्धि—भगवत्प्राप्ति लाभ करता है।'

पर कर्म होना चाहिये शास्त्रीय। शास्त्रविपरीत आचरण करनेसे सिद्धि, सुख तथा परम गति, सभी दुर्लभ हैं—

'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥'

पता नहीं, मानवके आदिम कालका यह अद्भुत इतिहास आपने कहाँ पढ़ा है, जिसके अनुसार सशक्त मानवकी विजय और अशक्तके शोषणसे पूर्ण ही प्राचीन युगका इतिहास लक्षित हुआ। मानवकी मनमानी, दूसरोंका रक्त शोषण करके शक्ति और वैभवके खेलमें आसुरी आनन्द लेना, स्वर्गको नरक बनाना—यह सब तो आधुनिक युगकी देन है। प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार तो परस्पर सहयोग ही परम कल्याणकर समझा जाता था—

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।'

भगवती श्रुति भी इसी पारस्परिक प्रेम और सहयोग-का सन्देश देती है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
(ऋ० १० । १९१ । २)

आज तो प्रजा भी एक दूसरेको नोच-खसोटकर अपना पेट भरना चाहती है, परंतु प्राचीन कालमें राजा भी प्रजाकी इच्छाका दास था। प्रजाके संकेतसे राजा अपना राज्य, अपना देश, अपना प्राण तथा अपनी प्राणप्यारी धर्मपत्नीका भी त्याग कर सकता था। भगवान् श्रीराम और उनका रामराज्य इसका आदर्श है।

आजकल आसुरी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। ऐटम बम-का निर्माण और हाइड्रोजन बम बनानेका प्रयत्न इसीके परिणाम हैं। प्राचीन कालमें भी पाशुपत और नारायण-जैसे संहारक अस्त्र थे, पर उनका प्रयोग निरीह जनता-के वधके लिये नहीं होता था। उन अस्त्रोंके साथ यह मर्यादा थी कि निरीह, निरपराधपर इनका प्रयोग न हो; अन्यथा परिणाम विपरीत होगा। वर्तमान कालके इन भयानक आसुरी बमोंसे तथा आसुरी मानवोंसे बचनेका एक ही उपाय है—'शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधर असुर-संहारक विश्वप्रतिपालक भगवान् विष्णुकी ही अनन्य शरण ली जाय।'

जब दैवी वृत्तिके लोग देवको भूलकर अहंकारके वशीभूत हो प्रमाद करने लगते हैं, तब उसकी प्रति-क्रियामें आसुरी शक्तियाँ सिर उठाती हैं। यह सब भगवान्‌का ही एक खेल है। फिर असुरोंके अत्याचारसे तभी छुटकारा मिलता है, जब उनका भी दमन हो। यह सब भी भगवान्‌की लोकहितकारिणी लीलाका ही विलास है।

प्रभु मङ्गलमय हैं, वे सबका मङ्गल ही करते हैं—इस विश्वासके साथ उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

दुर्गा और सरस्वतीकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! उत्तरमें निवेदन है कि श्रीदुर्गाजीका 'दुर्गा' नाम ही ढाई

अक्षरका है। इसका जप आप हर समय कर सकते हैं। प्रतिदिन स्नान-सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठकर मालाद्वारा जप करना चाहिये। जितना आप अधिक-से-अधिक प्रेमपूर्वक जप कर सकें, उतना ही अच्छा है—'अधिकस्याधिकं फलम्।' इसके जपकी कोई नियमित संख्या या विशेष विधि नहीं है।

'सरस्वती' का बीज-मन्त्र 'क्लीं' है। यह सबसे छोटा मन्त्र है। सरस्वतीजीका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करनेसे उनकी कृपा प्राप्त होती है। श्रीदेवीभागवतमें इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। सुदर्शनने इसीके जपसे सरस्वतीका प्रत्यक्ष दर्शन और दुर्लभ वरदान प्राप्त किया था।

प्रत्येक कामनाकी पूर्ति करनेवाले हैं स्वयं श्रीभगवान्; अतः प्रेमपूर्वक उन्हींका नाम जपना चाहिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

अर्थात् 'कोई कामना न हो, अथवा सब प्रकारकी कामनाएँ हों या मोक्षमात्रकी अभिलाषा हो, मनुष्य तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्‌की आराधना करे। अतः प्रत्येक कामनाकी पूर्तिका उपाय है—भगवान्‌की अटल भक्ति और भगवान्‌के नामोंका निरन्तर जप।

वशीकरणकी विधि मेरे पास नहीं है। वशीकरण-का प्रयोग सीखना या करना भी नहीं चाहिये। कोई पुरुष किसी स्त्रीको वशमें करनेके लिये यदि इसका प्रयोग करता है तो वह पाप करता है। यदि किसी मनोरथकी सिद्धिके लिये किसी देवताको वशमें करना हो तो वह उस देवताकी अथवा साक्षात् भगवान्‌की आराधनासे ही साध्य है। इसके लिये वशीकरणका प्रयोग करना निरर्थक है। भगवान्‌पर वशीकरण नहीं चलता। वे तो प्रेमसे ही वशमें होते हैं। अथवा स्वयं कृपा करके ही भक्तकी इच्छा पूरी करते हैं। भगवान्‌को वशमें करनेके लिये 'ढाई' अक्षरका 'प्रेम' ही समर्थ है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

नामसे पापका नाश होता है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर अपना विचार इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌के नामके बलपर पाप नहीं हो सकता, पापका नाश होता है। क्या सूर्यके प्रकाशके बलपर अन्धकार फैलाया जा सकता है? क्या जहाँ अन्धकार है, वहाँ सूर्यका प्रकाश भी है? इसी प्रकार जहाँ पाप है, वहाँ नाम या नामका बल नहीं है। वहाँ तो नामका अनादर या अवहेलना है। नाम और भगवान् दोनोंके प्रति द्रोहकी सूचना है। दूसरे शब्दोंमें वह महान् नामापराध है। इसका दण्ड है—'अन्धतमसाच्छन्न घोर नरक।'

नाम वह अग्नि है, जो पापराशिके ईंधनको जलाकर भस्म कर देती है। उस आगसे पापका नया ईंधन नहीं निकल सकता। सूर्यका प्रकाश रात्रिके गहन अन्धकारको विलीन कर देता है। उस समय नूतन अन्धकारकी सृष्टि नहीं हो सकती। जो नामकी शरण लेता है, वह भगवान्‌के प्रति श्रद्धालु होता है। वह पापके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्‌की शरणमें जाता है। उसको पापसे छूटनेकी चिन्ता रहती है। उसके मनमें पाप करनेका द्विगुण उत्साह नहीं हो सकता। वह पुराने अभ्यासवश विवश होकर पाप कर सकता है; फिर सावधान होता है, फिर फिसलता है। इस प्रकारकी दशा उसकी हो सकती है; किंतु वह पापसे दूर रहनेके लिये ही प्रयास करता है। पाप हो जानेपर उसके मनमें बड़ी ग्लानि होती है। वह अपार वेदनाका अनुभव करता है। प्रभुसे रो-रोकर प्रार्थना

करता है कि मुझे पापोंसे बचाइये। ऐसे साधकको भगवान् बचा लेते हैं। वह पहलेका पतित है, भगवान्‌की शरणमें आकर उनके नामकी गङ्गामें नहाकर पवित्र हो गया है। अतएव भगवान् पतितपावन हैं। यदि भगवान्‌की शरणमें आकर भी कोई पापाचारी, पतित बना रह जाय, तभी उनकी पतित-पावनतामें सन्देह किया जा सकता है। मनुष्य पहले कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, यदि नाम और भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान्‌के शब्दोंमें उसे 'साधु' ही मानना चाहिये। क्योंकि अब उसने ठीक रास्ता पकड़ लिया है, उत्तम निश्चयको अपना लिया है—

'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।'

अब वह पापी नहीं रहेगा। पापमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। उसको तो अब शीघ्र ही महात्मा बनना है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'

पर जो भगवान्‌का नाम लेकर पाप करता है, वह तो असुरों और दैत्योंकी भाँति भगवान्‌के साथ खुला विद्रोह करता है। असुरों और दैत्योंने भगवान् विष्णुको अपना शत्रु समझा था, अतः वे उनके स्वरूपभूत धर्मपर कुठाराघात करनेके लिये जान-बूझकर पापको बढ़ावा देते थे। पापाचार ही उनकी युद्ध-घोषणा या चुनौती थी। आज भी जो लोग नाम लेकर जान-बूझकर पाप करते हैं, वे नामापराधी असुर और दैत्योंकी कोटिमें हैं। समाजमें पाप और भ्रष्टाचार फैलाना उन्हींका काम है। भगवन्नामका आश्रय लेनेवाले भक्त तो स्वभावसे ही धर्मपालक और धर्म-प्रचारक होते हैं।

(२) 'भगवन्नाममें पाप-नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी पापी मनुष्यमें पाप करनेकी नहीं है।' यह कथन सर्वथा सत्य है। नामके साथ भगवान्‌की शक्ति है—जो अपरिमेय, असीम है। मनुष्य क्षुद्रतम जीव है, फिर पापी जीव तो और भी निकृष्ट है; उसमें शक्ति ही क्या है? इससे यह समझना चाहिये कि नामकी शक्ति बहुत बड़ी है, उससे हमारा उद्धार हो जायगा। यदि आजतक हमसे कोई शुभ कर्म नहीं बन सका, सदा पाप-ही-पाप हुआ है, तो भी हताश होने, घबरानेकी बात नहीं है। शीघ्र-से-शीघ्र हमें नामकी शरण लेनी चाहिये। नाम पापका विरोधी है, अतः उसकी शरण लेनेका अर्थ है पापसे मुँह मोड़ लेना। नाव और नाविकको अपना शरीर सौंप दिया जाय, तभी हम सागर या सरिताके पार हो सकते हैं। एक पैर जमीनपर और एक नावमें रक्खें तो गिरकर डूबना ही है। इसी प्रकार नामको पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेवाला ही नामका बल रखता है। नाम और पाप दोनोंको चाहनेवाला डूबता है। वास्तवमें पापको चाहनेवाला नामकी मखौल उड़ाता है, वह नामका बल मानता ही नहीं। जो पूर्णतया नामनिष्ठ हो जाता है, उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं—चाहे वे जान-बूझकर किये गये हों या अनजानमें।

(३) नाम लेनेमें किसी विधिकी अपेक्षा नहीं; हँसी, भय, क्रोध, द्वेष, काम या स्नेहसे भी नाम लेनेपर उस नामसे उसके पूर्व पाप अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परंतु जब वह अपना यह पेशा बना लेता है कि 'मैं पाप करूँगा और नाम लेकर उन्हें नष्ट कर दूँगा,' तब वह नामापराधी हो जाता है। उस दशामें नामापराध नामक नूतन और बड़ा भयङ्कर पाप वह कर बैठता है। यही उसको डुबो देता है। इससे बचना चाहिये। कारणका संयोग मिल जानेपर कार्य हो ही जाता है। यदि हँसी-मजाक, क्रोध, द्वेषसे भी किसीके शरीरसे आगकी चिनगारी छुआ दी जाय तो उसमें जलन होगी ही। बालकको विषके गुणका ज्ञान नहीं है, उसके प्रभावपर उसकी श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो भी उसे खानेपर उसकी मृत्यु हो ही जायगी। इसी

प्रकार नामोच्चारण मात्रसे पाप नाश होता है—भले वह हँसीमें, भयसे, द्वेषसे ही लिया जाय। अनिच्छासे या मनको और बातोंमें लगाये रखकर भी यदि हम भोजन करते हैं तो भी उससे भूख तो मिट ही जाती है; इसी प्रकार अन्यमनस्क होकर भी नाम लेनेसे पाप-नाश हो ही जाता है। हाँ, जब हम पाप करके नामसे मिटा देनेकी भावना रखकर बार-बार नाम लेते और पाप करते रहेंगे तो एक नवीन अपराध बनता जायगा, जिसे हम 'नामापराध' कहते हैं। यह समस्त पापोंसे बढ़कर है। नामापराधसे छुटकारा भी तभी मिलता है, जब पापसे सर्वथा बचे रहने तथा भविष्यमें 'नामापराध' न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा मनमें लेकर एकनिष्ठ होकर भगवन्नामोंका अधिकाधिक जप किया जाय। क्योंकि 'नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।' नामापराधका पाप भी नाम ही हरता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

दुःख क्या है ?

प्रिय भाई साहब! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। दुःख वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। मोहवश किसी घटना या अवस्थाविशेषमें आप प्रतिकूलताका अनुभव करते हैं, वही दुःख बन जाता है। यदि प्रारब्धभोग, भगवान्‌का मङ्गलमय विधान या मायाका विलास—इनमेंसे कोई-सी भी एक बात मान लें तो दुःख नहीं रहेगा। यों संसारी हिसाबसे देखें तो दुःख अपनी अपेक्षा सुखियोंके प्रति ईर्ष्यासे होता है और सुख अपनी अपेक्षा हीन स्थितिवालेसे अपनी ऊँची स्थिति माननेपर होता है। मनुष्यको सुखी होना हो तो सुखियोंसे द्वेष-ईर्ष्या करना छोड़ दे और अपने सुखको दुखियोंमें बाँट दे। आप स्वयं बुद्धिमान् हैं, मैं विशेष क्या लिखूँ।

शेष भगवत्कृपा।

(६)

स्त्रीसङ्गका त्याग आवश्यक है

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार जाने। आपने अपने मनकी जो स्थिति लिखी, उसपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि आपके मनमें अभी छिपी हुई प्रबल वासना है। यह स्थिति केवल आपकी ही नहीं है, बहुतोंकी है। मनकी इस दशामें आपके लिये यही श्रेयस्कर है कि आप बार-बार रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करें। प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। इससे असम्भव मानी जानेवाली बात भी भगवत्कृपासे सम्भव हो जाती है, इसपर आप विश्वास करें।

जहाँतक हो, स्त्रीचिन्तन और स्त्रीदर्शनका सर्वथा त्याग करें! शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये हैं—

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च कार्यनिर्वृत्तिरेव च॥

'स्त्री-सम्बन्धी बात सुनना, कहना, स्त्रियोंको देखना, उनके साथ खेलना, एकान्तमें बात करना, प्राप्त करनेका निश्चय करना, प्रयत्न करना और सहवास करना।'

इन सभीसे बचना आवश्यक है। स्त्री-सम्बन्धी साहित्यका पढ़ना, पत्रोंमें सिनेमाकी अभिनेत्रियोंके चित्र देखना और सिनेमा देखना—इस दुर्वासनाको बढ़ानेमें बहुत सहायक होते हैं। इनसे मनमें विकार पैदा होता है। स्त्रियोंके साथ बात करनेसे विकार बढ़ता है, स्पर्श करनेपर वह मानो पूरा बढ़ जाता है। इसीलिये स्त्री-दर्शनतकका निषेध किया गया है और उसे पाप माना गया है।

आजकल जो स्कूल-कॉलिजोंमें बालक-बालिकाएँ और स्त्री-पुरुष एक साथ पढ़ते हैं, यह बहुत ही हानिकारक है। देखने और बातचीत करते समय मनमें जो एक सुखासक्ति-सी प्रतीत होती है, मन वहाँसे हटना नहीं चाहता—यही छिपे विकारका लक्षण है।

मनमें रहनेवाली वासनाको यदि पनपनेका अवसर नहीं मिलता, उसे पुष्ट होनेको खूराक नहीं मिलती और लगातार विरोधी वातावरण मिलता है तो वह

धीरे-धीरे क्षीण होकर मर जाती है। वैसे ही, जैसे दीर्घकालतक जल न मिलनेपर वृक्षकी जड़ सूख जाती है और वह मर जाता है; परंतु यदि उसे जल मिलता रहा तो वह सदा हरा-भरा रहेगा एवं बढ़ेगा। उसमें यथासमय फूल और फल भी पैदा होंगे। इसी प्रकार पुरुषकी छिपी कामवासनामें यदि देखना, सुनना, एकान्तमें मिलना और बातचीत करना चलता रहता है तो वासना बढ़कर प्रत्यक्ष कामनाका रूप धारण कर लेती है और फिर मनुष्यका पतन हो जाता है।

इसलिये जहाँतक बने, सात्त्विक साहित्यका सेवन करना, सात्त्विक पुरुषोंके सङ्गमें रहना, निरन्तर सात्त्विक कार्योंमें लगे रहना, इन्द्रियोंके द्वारा मनके सामने सदा-सर्वदा सत्-वस्तुओंको ही रखना, जिससे वह सात्त्विक चिन्तनमें ही लगा रहे, और भगवान्‌के नित्य स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इससे कामवासनाका नाश होता है।

प्रतिदिन आदित्यहृदय और सूर्यकवचका पाठ करने, गायत्री जपने तथा सूर्यदेवसे प्रार्थना करनेसे भी कामवासनाका नाश होता है; परंतु केवल पाठ-प्रार्थना करे तथा स्त्रियोंका सङ्ग न छोड़े तो उससे वैसे ही विशेष लाभ नहीं होता, जैसे दवा लेनेके साथ-साथ बार-बार कुपथ्य करनेवाले रोगीको लाभ नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें तो कहा है—

'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।'

'स्त्रियोंका ही नहीं, स्त्रियोंके सङ्ग करनेवालोंका भी सङ्ग दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

(७)

प्रसन्नता-प्राप्तिका उपाय

सप्रेम हरिस्मरण! संसारमें रहते हुए ही चित्तकी प्रसन्नताका उपाय पूछा सो इसका उपाय भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(२।६४)

'वशमें किये हुए शरीर, इन्द्रिय और मनसे जो पुरुष राग-द्वेषसे मुक्त होकर विषयोंका सेवन करता है, उसे प्रसाद (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है।' और इस प्रसाद (प्रसन्नता) से सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते॥'
(गीता २।६५)

जबतक मनुष्य राग-द्वेषके वशमें है और जबतक मन-इन्द्रियोंका गुलाम है, तबतक उसके शरीर, इन्द्रिय और मनसे ऐसे कार्य होते ही रहते हैं, जो उसकी सारी प्रसन्नताका नाश करके उसका पतन कर देते हैं।

विषयोंमें रागी (विषयासक्त) मनुष्य जिह्वाके स्वादवश गुरुपाक पदार्थोंका अधिक भोजन कर लेता है अथवा राजस-तामस पदार्थोंको खा लेता है, जिससे शरीरमें विकार होते हैं और प्रसाद (प्रसन्नता) का नाश होता है।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य लोगोंके दोष देखने और उनकी स्तुति-निन्दा करनेमें रसका अनुभव करता है; अतः उसके द्वारा व्यर्थ, कटु, असत्य, अहितकर भाषण होता रहता है। फलस्वरूप उसके प्रसादका नाश होता है।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य घर-द्वार, परिवार-परिजन, धन-सम्पत्ति, यश-कीर्ति और शरीरके आराम-भोग आदिमें राग करके चोरी, जुआ, दुराचार, असत्य, अनाचार, दुर्व्यसन, कुसङ्ग और कुप्रवृत्तिमें प्रवृत्त हो जाता है और इससे उसके प्रसादका नाश हो जाता है।

राग-द्वेषके कारण मनुष्य अपने स्वार्थमें बाधक समझकर लोगोंसे वाद-विवाद, वैर-विरोध, मामले-

मुकदमे, उनका अपमान-तिरस्कार, उन्हें दुःख तथा हानि पहुँचानेकी चेष्टा और दुःख तथा हानि होनेपर प्रसन्नताका अनुभव करता है तथा दूसरोंके स्वत्व, धन, जमीन, स्त्री, मान, यश तथा अधिकारपर मन चलाता है एवं उन्हें हथियानेका प्रयत्न करता है । इससे उसके प्रसादका नाश होता है ।

बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो राग-द्वेषके वशमें नहीं होता तथा इन्द्रियोंको एवं मनको अपने वशमें रखकर शास्त्रविहित विषयोंका भगवान्‌की प्रीतिके लिये सेवन करता है ।

शरीरको वशमें रखकर उसके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा, भगवान्, संत तथा गुरुजनोंकी यथायोग्य वन्दना, पूजा और सेवा करनी चाहिये ।

वाणीको वशमें रखकर उसके द्वारा घबराहट उत्पन्न न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, रहस्य, प्रेम आदिका यथायोग्य कथन तथा जप-कीर्तन करना चाहिये ।

मनको वशमें रखकर उसके द्वारा शुभचिन्तन, भगवच्चिन्तन करना चाहिये । उसमें दया, प्रेम, सौहार्द, ममता, तितिक्षा, अहिंसा, प्रसन्नता, कोमलता, मननशीलता, पवित्रता आदि भावोंका विकास, संरक्षण तथा संवर्द्धन करना चाहिये ।

और इस प्रकार तन, वचन और मनको नित्य-निरन्तर शुभके साथ जोड़े रखना चाहिये तथा यह सब भी करना चाहिये निष्कामभावसे, केवल श्रीभगवान्‌की प्रीतिके लिये ही । एवं यही चाहना चाहिये कि इस तरह विशुद्ध भगवत्-प्रीतिके लिये तन, वचन तथा मनसे सेवन-भजन करनेमें उत्तरोत्तर उल्लास, उत्साह-पूर्वक प्रवृत्ति बढ़ती रहे । प्रसन्नता या सच्चे प्रसादका यही लक्षण है कि उसमें मन-बुद्धि सर्वथा भगवान्‌के अर्पण हुए रहते हैं । इन्द्रियाँ और शरीर भगवान्‌की सेवाके लिये अपनेको समर्पण कर देते हैं । अशुभका सर्वथा परित्याग हो जाता है । परंतु जबतक मनुष्य राग-द्वेषरूपी लुटेरोंके वशमें हुआ रहता है, तबतक वह शुभके साथ पूर्णरूपसे संयुक्त नहीं हो सकता—भगवान्‌में चित्तको सर्वथा संलग्न नहीं कर सकता ।

परंतु राग-द्वेषके छूटनेका उपाय भी भगवान्‌का भजन ही है । भगवद्भजनसे ही, भगवान्‌के नित्य अपराभूत अपरिमित बलसे ही मनुष्य राग-द्वेषरूपी प्रबल डाकुओंसे छुटकारा पा सकता है ।

अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह भगवान्‌के नाम-रूप, लीला, गुण, धाम आदिमें राग करे । उनके असीम सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य-सागरमें बार-बार डुबकी लगाना आरम्भ कर दे और भगवद्विरोधी—भगवान्‌से हटानेवाले विषयोंमें द्वेष करे । परिणाम यह होगा कि उसके राग-द्वेषका नाश हो जायगा । फिर न तो उसके हृदयमें द्वेष रहेगा और न उस द्वेषका प्रतिद्वन्द्वी राग ही रहेगा । उस समय भगवान्‌में उसकी सर्वत्र द्वेषहीन विशुद्ध अनुरक्ति हो जायगी—उन्हींमें अनन्य राग हो जायगा । इसी 'राग'का नाम 'भगवत्प्रेम' है । इसीकी प्राप्तिके लिये भक्तजन सदा लालायित रहा करते हैं । भगवत्प्रेमके सामने महापुरुष मुक्तिको भी तुच्छ समझकर सदा इसके सेवनमें लगे रहते हैं ।

मुकुति निरादरि भगति लुभाने ।

(८)

पूजा-प्रतिष्ठासे बचिये

प्रिय महोदय, सादर हरिस्मरण ! आपका कृपा-पत्र मिला । धन्यवाद ! आपने लिखा कि 'समय बहुत अच्छा बीत रहा है, भजन-साधनके साथ ही मैं आज-कल प्रवचन भी करता हूँ, बहुत लोग सुननेको आते हैं, लोगोंका प्रेम तथा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है ।' सो बहुत आनन्दकी बात है । भगवान्‌के प्रति लोगोंमें

प्रवृत्ति हो, उनका उत्साह-उल्लास बढ़े और वे भजन-साधन करनेमें लगें—यह बहुत ही उत्तम बात है। जो लोग स्वयं भगवान्‌का स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं, वे निश्चय ही धन्य हैं। एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'मनुष्योंमें वे लोग धन्य हैं और निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌के नामका स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

इस दृष्टिसे आपका कार्य बहुत ही सराहनीय है। परंतु एक सुहृद्‌के नाते मेरा आपसे निवेदन है कि आप सदा-सर्वदा आत्मनिरीक्षण करते रहियेगा। आप शुद्ध वैराग्यके भावसे, केवल भगवत्स्मरण एवं भजन-ध्यानके लिये ही घरसे निकले हैं—ऐसा आप मानते हैं। अतएव यह ध्यान रखिये कहीं वैराग्य और भजनके पवित्र स्थानमें बड़प्पनका या गुरुपनका अभिमान, मान-सम्मानकी इच्छा और लोगोंका मनोरञ्जन करके उनसे विषय प्राप्त करनेकी लालसा न जाग्रत् हो जाय।

पता नहीं लगता—जब मनुष्य भजन-साधन करने लगता है, घर त्यागकर संन्यासी हो जाता है, वैराग्यका अभ्यास करता है, आहार-विहार आदिमें संयम-नियमका पालन करता है, श्रीभगवन्नाम-गुण-कीर्तनमें कभी मस्त हो जाता है, तब सरल हृदयके नर-नारी उसे भक्त या महात्मा मानकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं, उससे उपदेश प्राप्त करके भवसागरसे पार होना चाहते हैं, उसे अपनी जीवन-नौकाका कर्णधार गुरु मानने एवं कहने लगते हैं और ऐसी स्थितिमें यदि इन बातोंमें उसे जरा भी रस आने लगता है तो संयम-नियमके साधन, भगवद्भजन तथा सत्सङ्गके प्रभावसे जो कामना-वासनाएँ तथा दुर्गुण-दुर्विचार हृदयमें लुप्त-से हो गये थे, छिप गये थे, जिससे उसने मान लिया था कि मैं काम, क्रोध, लोभ, मान और मोहादिसे मुक्त हो गया हूँ, वे कामना-वासनाएँ और दुर्गुण-दुर्विचार पुनः प्रबलरूपमें जाग उठते हैं, जो उसकी सारी साधन-सम्पत्तिको सहज ही लूटकर उसके अंदर धन, मान, प्रतिष्ठाकी प्रत्यक्ष और प्रबल भूख उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उसका जीवन सचाईसे दूर हटकर निरी कृत्रिमताका तथा दम्भका केन्द्र बन जाता है। वह फिर अपने व्याख्यानों, प्रवचनों, कथाओं, कीर्तनों और प्रेम तथा ध्यानकी नकली भाव-भङ्गियोंसे उन नर-नारियोंको रिझाकर उनसे अपनी वासना-कामनाकी तृप्ति करनेके प्रयत्नमें लग जाता है। भलीभाँति आत्मनिरीक्षण करनेपर मनके इस दोषका पता लग सकता है। कभी मनकी ऐसी स्थिति मालूम दे तो सावधान हो जाना चाहिये तथा लोगोंके सामने किये जानेवाले व्याख्यानों, प्रवचनों एवं कीर्तनोंको छोड़कर एकान्तमें भगवान्‌के सामने रो-रोकर कातर प्रार्थना करके अपनी स्थिति रखनी चाहिये और उनसे रक्षाकी भीख माँगनी चाहिये।

आपको यह सर्वथा सावधानीके साथ देखते रहना चाहिये कि आपकी क्रिया और चेष्टा लोकरञ्जनार्थ—लोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये तो नहीं हो रही है। वे जब आपको फूलोंका हार पहनाते हैं, चन्दन लगाते हैं, मान-सम्मान करते हैं, पैर छूते हैं, भक्त, जीवन्मुक्त महात्मा, महाभागवत, महापुरुष या भगवान् कहकर सिर नवाते हैं, आपके आचरण, साधन या स्थितिकी बड़ाई करते हैं, आपको अपना पथप्रदर्शक या गुरु बनाना चाहते हैं, सरल हृदयसे अपनी दुरवस्थाको आपके सामने रखकर उससे त्राण करने और भगवत्प्रेम प्रदान करनेकी प्रार्थना करते हैं, उस समय आपका मन क्या कहता है। क्या उससे आपके मनमें उस समय आनन्द आता है? उस मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठामें रस, सुख तथा गौरवकी अनुभूति होती है? उन लोगोंको इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान करने एवं पैर पूजनेकी प्रवृत्तिको आप

उत्साह देते हैं, उनकी भक्ति, श्रद्धा मानकर प्रसन्न होते हुए उसे अच्छा बतलाते हैं या इन सब कार्योंका विरोध करते हैं? विरोध करते हुए भी क्या आपके मनमें कभी ऐसी बात आती है कि विरोध करनेपर ये नर-नारी मुझे और भी अधिक ऊँची स्थितिका महात्मा या प्रेमी समझेंगे और मेरी इस विनम्रतापर विशेष मुग्ध होकर मेरा विशेष सम्मान करेंगे?

यदि आपको मान-पूजामें—चरणस्पर्श कराने आदिमें रस आता है, प्रसन्नता होती है, आप सुखका अनुभव करते हैं, अथवा इसमें अपना एवं उनका 'कल्याण होगा' ऐसा मानते-कहते हैं, दुःख, संकोच और लज्जाका अनुभव नहीं होता, यह एक 'महान् पतन करानेवाला साधनका प्रधान विघ्न' है, ऐसा नहीं मानते तो निश्चय समझिये, आपका पतन हो रहा है। आप परमार्थके पुण्य-पथसे च्युत हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सावधान हो जाइये।

धन और स्त्रीके संसर्गसे तो सदा-सर्वदा सर्प तथा अग्निसे बचनेकी तरह सर्वथा बचे ही रहिये; मान, प्रतिष्ठा, पूजा, यश, कीर्तिकी भी कभी जरा भी इच्छा मत कीजिये।

यह बड़े आश्वासनकी बात है कि आप अपनी कमजोरियोंको स्वीकार करते हैं और अपनी मानस-स्थितिको समझते हैं; पर इतनेपर भी आप उन कार्यों-को कर ही रहे हैं, जिनका परिणाम आपके लिये अहितकर हो सकता है—यह अवश्य दुःखकी बात है। मेरी रायमें अभी आपको चाहिये कि आप दूसरोंको उपदेश देना बंद कर दें। पूजा-प्रतिष्ठाको कभी स्वीकार न करें। किसीको चरण न छूने दें। वर्तमान स्थानको छोड़ दें और कहीं अन्यत्र जाकर नियमपूर्वक भजन करें। भजनमें इतना समय लगायें कि थोड़ी देर सोने तथा शौच-स्नान-भोजनादिके अतिरिक्त दूसरी बातके सोचने तथा दूसरा काम करनेके लिये अवकाश ही नहीं मिले। स्त्रियोंसे एकान्त-में कभी न मिलें, न बातचीत करें, न किसी अकेली स्त्रीके घर भिक्षा आदिके लिये जायँ और न किसी स्त्रीको मन्त्र दें।

आप तो नये साधक हैं। सिद्ध महापुरुष भी वैसे ही आचरण करते हैं, जिनसे उनका अनुकरण करके इतर लोग सन्मार्गपर आरूढ़ रहें। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३।२१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, इतर लोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। वह जो कुछ भी प्रमाण कर देता है, लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं। अर्जुन! मेरे लिये त्रिलोकीमें कोई भी कर्तव्य नहीं है, न कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु ही मुझको अप्राप्त है; तथापि मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ। यदि मैं कदाचित् सावधानीके साथ आदर्श कर्माचरण न करूँ तो पार्थ! मानव-समुदाय सब प्रकारसे मेरे ही बताये मार्गपर चलने लगे अर्थात् आदर्श कर्मोंका परित्याग कर दे। इस प्रकार यदि मैं आदर्श कर्म न करूँ तो लोक उत्सन्न हो जायँ और मैं संकरताका कारण बनूँ तथा इस सारी प्रजाका नाश करनेवाला होऊँ।'

जब इस प्रकार स्वयं भगवान् और जनकादि सिद्ध पुरुष भी श्रेष्ठ आदर्श आचरण करना चाहते हैं, तब आप तो साधक हैं। यह सत्य है कि नित्य समत्वमें स्थित परम

श्रेष्ठ सिद्ध महापुरुषोंका यदि कहीं मान-सम्मान होता है तो उससे उनकी कोई हानि नहीं होती; तथापि वे भी उसे स्वीकार नहीं करते। असलमें मान-सम्मान होता है श्रेष्ठत्वका—सदाचार, सद्गुण, ऐश्वर्य, शक्ति, निःस्वार्थभाव, त्याग, वैराग्य, भक्ति और ज्ञानका। ये सारी चीजें भगवान्‌की हैं; यदि किसीमें ये हैं तो भगवान्‌की दी हुई हैं। फिर वह इनके लिये अभिमान क्यों करे, भगवान्‌को मिलनेवाले सम्मान-गौरवका अधिकारी अपनेको क्यों समझे? जो लोग इस मान-सम्मानको अपनी प्राप्तव्य वस्तु समझकर स्वीकार करते हैं और फूल उठते हैं, वे तो अपना पतन ही करते हैं। सबसे अच्छी और लाभकी बात तो यह है कि इन्हें स्वीकार ही न किया जाय और यदि कहीं स्वीकार न करनेसे किसीको यथार्थमें दुःख होता हो तो उतना ही स्वीकार करे, जितना शास्त्रमर्यादा और सदाचारके अनुकूल हो और उसको भी भगवान्‌के ही समर्पण कर दे। यही समझे कि यह सब भगवान्‌का ही मान-सम्मान है। मैं जो निमित्त बनाया गया हूँ, इससे मालूम होता है कि इसमें कहीं-न-कहीं मेरी कोई वासना ही कारण है। और भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे इस मीठे विषसे सदा बचाते रहें।

स्त्री-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें एक अंग्रेज न्यायाधीशका मत

अभी कुछ दिनों पूर्व सस्सेक्स (Sussex) नगरमें लार्ड जस्टिस डेनिंग नामक एक अंग्रेज न्यायाधीशने भाषण देते हुए कहा कि 'मुझे सन्देह है कि स्त्री-जातिको दी जानेवाली स्वतन्त्रता कभी भलाईके लिये हो सकती है।' उन्होंने सभाको स्मरण दिलाया कि स्त्रीकी स्वतन्त्रता रोमन-समाजके लिये एक भारी अभिशाप सिद्ध हुई। इसके कारण रोमन-समाजमें सदाचारका ह्रास हुआ और दाम्पत्य-जीवनके पवित्र बन्धनका जैसा पतन हुआ, उसका परिचय पाश्चात्त्य जगत्‌को इससे पहले कभी नहीं हुआ था। नैतिकताके ह्रासके कारण ही रोमन-साम्राज्यका पतन हुआ। उनके कथनानुसार आधुनिक जगत्‌में स्त्री केवल स्वतन्त्र ही नहीं, वरं कानूनकी वह एक उच्छृङ्खल प्रेयसी है, और पुरुष एक सहिष्णु भारवाहक घोड़ेके समान है। कानूनने पतिपर भारी दायित्वका बोझ लाद दिया है, उसे पत्नीका भरण-पोषण करना ही पड़ेगा, और इसके लिये उसे घरके बाहर कोई-न-कोई काम-धंधा करना ही होगा। इसपर भी पत्नी अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अपने पतिके नामसे कोई भी वस्तु उधार ले सकती है; परंतु वह बेचारा ऐसा नहीं कर सकता, चाहे उसकी स्त्री कितनी ही धनाढ्य हो और चाहे वह कितना ही कमाती हो। स्त्री अपनी सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेके लिये पतिपर अदालतमें मुकदमा चला सकती है; परंतु पति इस मामलेमें असहाय है, वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि पति-पत्नीमें कहीं अनबन हो गयी या विच्छेदकी नौबत आ गयी तो स्त्रीके पास जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त साधन न होनेपर और उस अवस्थामें जब कि उसने अपने व्यवहारसे अपना अधिकार नहीं खो दिया है, अदालत पुरुषको ही बाध्य करेगी कि वह स्त्रीके जीवन-निर्वाहके लिये प्रबन्ध करे। पुरुष बेचारेको नियमानुसार बाध्य होकर यह सब करना पड़ेगा।

लार्ड जस्टिस डेनिंगने स्त्री-पुरुषकी समानताके प्रभावपर इसी प्रकारकी और कई एक सरल दलीलें दी हैं, उनका कहना है कि—'स्त्री जब घरके बाहर किसी कामको करने लगती है, जो वह उसे अन्य पुरुषके अधिक सम्पर्कमें ला फेंकता है, वहाँ वह उन प्रलोभनोंमें फँस सकती है, जो उसे घरपर सुलभ नहीं होते।' अधिक स्वतन्त्रता देनेसे स्त्रीके अधिक बिगड़ जानेकी सम्भावना है, ऐसा उनका मत है। रोममें ऐसी स्वतन्त्रताका यही दुष्परिणाम हुआ है।

भक्त-गाथा

भक्त गोवर्धन

विशालापुरीमें गोवर्धन नामक एक नवयुवक पण्डित रहते थे। ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान्, तर्कशील और कुछ विद्याभिमानी थे। उनकी पत्नी भी बड़ी साध्वी थी। उसमें भगवान्के प्रति विश्वास और भक्ति थी। पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम था। घर बहुत सम्पन्न न होनेपर भी दोनों बड़े सुखी थे। इनके यहाँ एक विरक्त महात्मा कभी-कभी आया करते थे। गोवर्धनजीके पिता महात्माजी-के बड़े भक्त थे। उन्होंने इनकी बड़ी सेवा की थी। महात्माकी सच्ची सेवा उनके बतलाये हुए पवित्र मार्गका अनुसरण करनेमें ही है, उनके बाहरी वेष-भूषाका अनुकरण करनेमें नहीं। गोवर्धनके पिता ऐसे ही श्रेष्ठ सेवक थे। उन्हींके सम्बन्धसे महात्मा कभी-कभी इनके घर कृपा करके पधारा करते थे। इधर बहुत दिनोंसे महात्मा नहीं आये। गोवर्धनका पड़ोसी नन्दाराम बड़ा असदाचारी और कुमार्गगामी था; वह गोवर्धनको देखकर जलता था और उन्हें भी अपने समान ही बनाना चाहता था। परंतु बीच-बीचमें महात्माका सङ्ग प्राप्त होते रहनेसे गोवर्धनकी चित्तवृत्तिपर मलिनताकी छाप नहीं पड़ती थी और इसीलिये पड़ोसी नन्दारामकी दाल नहीं गलती थी।

इधर वर्षोंसे महात्माका सङ्ग छूट गया। गोवर्धन सदाचारी विद्वान् तो थे, परंतु भजनपरायण नहीं थे। उनमें तर्क अधिक था, भक्ति नहीं थी; तथापि महात्माके सङ्ग-प्रभावसे उनके अंदरके काम-क्रोधादि दोष दबे रहते थे। पर सत्सङ्ग छूट जाने और नन्दारामका कुसङ्ग प्राप्त होनेसे उनके वे दबे दोष प्रबलरूपसे उभड़ आये। गोवर्धन धीरे-धीरे शराबी, जुआरी, व्यभिचारी हो गये। पत्नी बेचारी बड़ी दुखी थी। उसके मनमें बड़ा सन्ताप था। उसका भगवान्में विश्वास था। उसने एक दिन मन-ही-मन आर्तभावसे रोकर भगवान्से प्रार्थना की—'भगवन्! मेरे पतिदेव कुसङ्गमें पड़ गये हैं, महात्मा इधर नहीं आये। आप दीनबन्धु हैं। मुझ दीना अबलापर दया कीजिये। महात्माको यहाँ भिजवाइये और मेरे पतिका जीवन सुधारिये। आप सर्वसमर्थ हैं, कृपासागर हैं, जीवमात्रके सुहृद् हैं। आपने स्वयं कहा है, मुझको सब जीवोंका सुहृद् मान लेनेपर उसे तुरंत शान्ति मिल जाती है। प्रभो! मैं आपको सर्वसुहृद् मानती हूँ। आप मुझे शान्ति दीजिये।'

भगवान् सच्ची पुकारको तुरंत सुनते हैं। पुरुष हो, स्त्री हो, ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, पण्डित हो, मूर्ख हो—जो कोई भी जब कभी भी आर्त होकर सच्चे हृदयसे उन्हें पुकारता है, वे तुरंत सुनते हैं और उसका मनोरथ सफल करते हैं। यह तो हमारा अभाग्य है कि हम ऐसे सदा सर्वत्र अपने साथ रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परम सुहृद्पर विश्वास न करके नश्वर भोगोंपर और स्वार्थी जगत्पर विश्वास करते एवं सङ्कटके समय उनके सामने गिड़गिड़ाकर निराशा और तिरस्कारके विषधर सर्पको हृदयका हार बनाते हैं।

महात्मा समाधिस्थ अवस्थामें सुदूर नदीतटपर एकान्तवास कर रहे थे। अकस्मात् उन्हें अपने सेवकके पुत्र गोवर्धनकी याद आयी। उनका हृदय तिलमिला उठा। 'मैं बहुत दिनोंसे विशालापुरी नहीं गया। पता नहीं, गोवर्धनकी क्या स्थिति होगी। कहीं वह कुसङ्गका शिकार तो नहीं हो गया। मेरे मनमें बार-बार क्यों उसके लिये इतना उद्वेग हो रहा है?' महात्माके मनसे जगत्की सत्ताका सर्वथा अभाव हो गया था। फिर सत्ताके सङ्कल्प करने-वाले मनका भी अभाव हो गया। पहले दृश्यका अभाव था, अब द्रष्टा भी खो गया। रह गया वही, जो है; वह क्या है, कैसा है? कौन बताये। न कोई जानने योग्य है और न जाननेवाला। बस, उसीमें एकात्मता प्राप्त

करके महात्मा निर्विकल्प समाधिमें स्थित थे। आज अकस्मात् उनकी समाधि टूटी और उन्हें गोवर्धनकी स्मृति आ गयी। स्मृति भी ऐसी, जो भुलाये नहीं भूलती। मानो किसी आसक्तिवश कुछ हो रहा है। सत्यसंकल्प सर्वनियन्ता भगवान्‌की जो प्रेरणा थी। क्योंकि गोवर्धनकी साध्वी पत्नीने भगवान्‌से यही प्रार्थना की थी कि महात्माको भेजकर मेरे स्वामीका जीवन सुधारिये।

महात्मा सीधे विशालपुरीकी ओर चले, जैसे निपुण लक्ष्यवेधीका बाण सीधा लक्ष्यकी ओर ही जाता है। वे विशालपुरी पहुँचे, उस समय आधी रात बीत चुकी थी। सिद्ध महात्माकी सर्वगत दृष्टिने देख लिया, इस समय गोवर्धन शहरके उत्तरकी ओर बसे हुए मुहल्लेमें मायावती वेश्याके घरपर हैं। वे सीधे वहीं पहुँचे। बाहरका दरवाजा खुला था। उन्होंने अंदर जाकर कमरेके किवाड़ खटखटाये और कहा—'गोवर्धन! किवाड़ खोलो।' गोवर्धन इस समय मद्यकी मादकतामें चूर, अपनेको भूला हुआ था। पराधीन था, सर्वथा बहिर्मुख हो रहा था। परंतु महात्माके सिद्ध शब्दोंकी वह अवहेलना नहीं कर सका। वेश्याका भी साहस नहीं हुआ कि उसे रोके। गोवर्धनने किवाड़ खोल दिये। चाँदनी रात थी। खोलते ही अपने सामने एक परम तेजःपुञ्ज जटाधारी महापुरुषको खड़े देखा। उनके शरीर और नेत्रोंसे एक स्निग्ध सुशीतल तेजोऽमृतधारा निकल रही थी। गोवर्धनको पहले तो कुछ डर-सा लगा, वहम हुआ। मनमें कुछ उद्वेग आया। परंतु दूसरे ही क्षण उसने महात्माको पहचान लिया। उसका सारा मद उतर गया। वह चीख मारकर चरणोंमें गिर पड़ा।

संत और भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं होता। महान् दुराचारी भी चुटकी मारते-मारते साधु-शिरोमणि बन जाता है। अरे भोले मानव! तू कितने विकट भ्रमके भँवरमें फँस रहा है। संसारके पदार्थोंमें सुख है, यह कैसी मिथ्या मृगतृष्णाका विश्वास है। बार-बार ठोकरें खाता है, निराश होता है, गिरता है, चोट लगती है, फिर भी मोहवश उसी ओर दौड़ता है।

मायावती भी किवाड़ोंके पास खड़ी थी। महात्माके अमोघ दर्शनका प्रभाव था। उसका भी हृदय द्रवित हुआ जा रहा है। जीवनके सारे पाप मानो इस क्षण मूर्तिमान् होकर उसके सामने खड़े हो गये। वह काँप गयी। हृदयमें पश्चात्तापकी प्रचण्ड आग जल उठी। सारी पापराशि जल गयी। हृदयका भाव-नवनीत पिघला और अश्रुधाराके रूपमें वह नेत्रमार्गसे बह चला। पता नहीं, उसका हृदय शुद्ध हुआ माना जाय या नहीं; पर वह भी आगे बढ़कर महात्माके चरणोंपर गिर पड़ी और नेत्र-जलकी धाराओंसे उनके पावन पद-सरोज पखारने लगी। महात्माका वरद हस्त उठा। महात्मा झुके। वरद हस्तने दोनोंके मस्तकोंका स्पर्श किया और बोले—'मेरे बच्चो! उठो, घबराओ नहीं। भगवान्‌की कृपाशक्तिके सामने तुम्हारे पापोंकी क्या बिसात है! कितना ही घना, गहरा और बहुत समयका अन्धकार हो, प्रकाशके आते ही वह छिप जाता है। फिर यदि वहाँ साक्षात् सूर्य उदय हो जाय, तब तो अन्धकारको कहीं छिपनेकी भी जगह नहीं मिलती। भगवान्‌की कृपा कभी न छिपनेवाला प्रचण्ड और सुशीतल प्रकाशमय सूर्य है। पापान्धकारमें कितनी शक्ति है जो क्षणमात्र भी उसके सामने ठहर सके। मैं श्रीभगवान्‌की अनुपमेय कृपाशक्तिकी प्रेरणासे ही आधी रातके समय यहाँ आया हूँ। तुम दोनों पवित्र हो गये। उठो! भगवान्‌का भजन करो और जन्म-जीवनको सफल करो।' दोनों उठे और हाथ जोड़कर कठपुतलीकी भाँति सामने खड़े हो गये। दोनोंके नेत्र झरने बने हुए थे।

महात्माने कहा—'गोवर्धन! तुम घर जाओ और अपनी साध्वी पत्नीको सान्त्वना दो। आजसे यह मायावती तुम्हारी बहिन है। इसको अपनी सहोदरा बहिन समझो। यह अब कावेरीके तटपर जाकर भगवान्‌का

भजन करेगी। किसी कुसङ्गमें पड़कर यह इस दशाको पहुँची। तुम्हारे पिता मेरे बड़े आज्ञाकारी थे, संत थे, भगवत्प्राप्त पुरुष थे। उनके शुभ संस्कार तुम्हारे अंदर थे; परंतु तुमने विद्याके अभिमानमें भगवान्‌की भक्ति नहीं की। तर्कके बलपर केवल जगत्के अस्तित्वका खण्डन ही करते रहे। तुमने मायाधीश्वर सच्चिदानन्द भगवान्‌को भी मायाका ही कार्य बताया। इसीलिये तुम बिना केवटकी नावके सदृश इस अघ-समुद्रमें डूब गये। जो अतुलशक्ति भगवान्‌का आश्रय न लेकर अपने चार अक्षरोंके अभिमानपर कूदा-फाँदा करते हैं, उन्हें तो उल्टे मुँहकी खानी ही पड़ती है। उनका पतन ही होता है। अन्धकारका प्रवेश वहीं होता है, जहाँ प्रकाश नहीं होता। पहलेसे ही भगवदाश्रयकी दिव्य शीतल स्निग्ध ज्योति प्रज्वलित कर ली जाय और दृढ़ विश्वासके निर्मल स्नेहसे सिञ्चन करते हुए उसे सदा ज्यों-की-त्यों प्रज्वलित रक्खी जाय तो वहाँ कभी पापान्धकारका प्रवेश हो ही नहीं सकता। पापके बिना ताप भी नहीं आते। चोर-डाकुओंका प्रवेश अँधेरेमें ही हुआ करता है।

'तुमने तो आज भी भगवान्‌को नहीं पुकारा, उनकी शरण नहीं गये। पर तुम्हारी पत्नी बड़ी भक्तिमती है। उसका भगवान्‌पर अटल विश्वास है। उसीकी विश्वासभरी आर्त पुकारने भगवान्‌का आसन हिलाया और भगवान्‌की प्रेरणाने ही समाधिसे उठाकर मुझको यहाँ भेजा। मैं भगवान्‌की सत्य प्रेरणासे ही यहाँ आया; इसीसे तुम दोनोंके हृदयोंमें जो चिरपोषित अनाचार-दुराचारकी राशि थी, वह सूर्यके प्रखर प्रकाशसे अन्धकारके नाशकी भाँति इतनी जल्दी मिट गयी। भगवान्‌के मिलनेपर पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा ही पापोंको जला डालती है। आज मेरे साथ आयी हुई भगवान्‌की प्रेरणाका अनिच्छित दर्शन करके ही तुम कृतार्थ हो गये हो। यह भगवान्‌की अनन्त कृपाका दिग्दर्शन है। इस कृपा-प्राप्तिमें कारण है तुम्हारी साध्वी पत्नी। तुमने भगवान्‌को नहीं पुकारा। पर तुम्हारी पत्नीने विश्वासभरी पुकार की। उसकी प्रार्थना थी—'दीनबन्धु भगवान् दया करके मेरे द्वारा तुम्हारा सुधार करें।' वही हुआ। मैं तो समाधिस्थ था। यहाँ क्यों आता। साध्वी ब्राह्मणीके द्वारा वशीकृत भगवत्कृपाशक्तिने मुझको जगाकर यहाँ भेजा। सच्चे आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रिय वे ही हैं, जो अपने आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रियको कुमार्गसे हटाकर—विषय-विष-वारुणीके जहरीले नशेसे छुड़ाकर भगवान्‌के मार्गपर लगाते हैं और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करके उन्हें भगवत्प्रेम-सुधा-धाराका पान कराते हैं। तुम्हारी पत्नी धन्य है और तुम भी धन्य हो, जो ऐसी पत्नीके पति होनेका सौभाग्य तुमने प्राप्त किया है। सावित्रीने एक यमराजके फंदेसे अपने स्वामी सत्यवान्‌को छुड़ाया था। पर तुम्हारी साध्वी पत्नीने तुमको अनेकों जन्म-जन्मान्तरोंमें जानेसे छुड़ाकर अनेकों—अनन्तों मृत्युओंसे बचा लिया। साध्वी पत्नी क्या नहीं कर सकती!

'यह मायावती पूर्वजन्मकी बड़ी भक्ता थी। यहाँ भी पवित्र ब्राह्मण-कुलमें इसका जन्म हुआ था। परंतु माता-पिता तथा स्वामीके परलोकवासी हो जानेपर दुराचारी मनुष्योंने इसे अपने फंदेमें फँसा लिया। यह भोली थी, सरलहृदया थी, इससे सहज ही कुसङ्गमें पड़ गयी। जिस कुसङ्गने तुम्हारा पतन किया, उसीने इसका भी किया। कुसङ्गसे ऐसी कौन-सी बुराई है, जो नहीं हो सकती और ऐसा कौन-सा पतन है, जो नहीं होता। मूर्ख मनुष्य धनादिके लोभसे कुसङ्गमें पड़कर अपने ही हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारकर स्वयं ही अपनेको पतनके गहरे गड्ढेमें ढकेल देते हैं। मायावती भी कुसङ्गमें पड़कर गिर गयी। पर इसके हृदयमें पश्चात्ताप-

की आग जल रही थी। पापी दो प्रकारके होते हैं। एक वे, जो परिस्थितिवश कुसङ्गमें पड़कर पापपङ्कमें धँस जाते हैं; पर वह पाप उनके हृदयमें सदा शूलकी तरह चुभता रहता है। वे पश्चात्तापकी आगमें तपते और मन-ही-मन कराहते हुए पतितपावन भगवान्‌को पुकारा करते हैं। दूसरे वे, जो पाप करनेमें ही दक्षता, चतुराई और जीवनकी सफलता मानकर मन-ही-मन गौरवका अनुभव करते हैं। ऐसे लोग बार-बार भयानक नरकयन्त्रणाओं और नारकी योनियोंमें विविध दुःखों एवं कष्टोंके ही शिकार होते हैं। पर जो पहले—पश्चात्ताप करके दीनबन्धु भगवान्‌पर अनन्य विश्वास करके उन्हें पुकारनेवाले होते हैं, उनकी पुकार भगवान् सुनते हैं और अपनी कृपासुधा-धारामें नहलाकर उन्हें तुरंत परम साधु बना लेते हैं।'* अस्तु,

*श्रीगीतामें इन दोनों प्रकारके पापियोंकी स्थिति और गतिका वर्णन किया है—

(१)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६। १९-२०)

'मायाके द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले, आसुरी स्वभावके आश्रित, मूढ़, अधम पापीलोग मुझको नहीं भजते। उन द्वेष करनेवाले निर्दय पापी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न पाकर (एक ही जन्ममें नहीं) जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर उससे भी नीच गतिको ही जाते हैं।'

(२)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९। ३०-३१)

'यदि महापापी मनुष्य भी अनन्यभाक् होकर (मुझ एकमें ही विश्वास करके) मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सनातनी शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम यह निश्चय सत्य समझो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

मायावतीने अभी कल ही रो-रोकर भगवान्‌को पुकारा था। भगवान्‌ने उसकी भी पुकार सुन ली। गोवर्धन और मायावती दोनोंके नेत्रोंसे उसी प्रकार अश्रुधारा बह रही थी। उनके सारे पाप उसीमें बह गये थे। दोनोंने बहिन-भाईकी भाँति परस्पर मिलकर महात्माके आगे हाथ जोड़े। महात्माने मायावतीको अपनी तुलसीकी माला देकर आशीर्वाद दिया तथा कावेरीके तटपर जाकर भजन करनेका आदेश दिया। गोवर्धनको उसके घर जानेका आदेश दिया और प्रातःकाल ही स्वयं भी उसके घर पधारनेकी बात कही। गोवर्धन और मायावतीके सामनेसे मायाका पर्दा हट गया। वे निहाल हो गये। संत और भगवंतकी कृपाशक्ति कल्याण करनेमें अमोघ होती है।

गोवर्धनकी पत्नीकी आँखोंमें नींद नहीं थी। वह रो-रोकर करुणामय भगवान्‌को पुकार रही थी। इतनेमें ही गोवर्धनने आकर किवाड़ खटखटाये तथा आवाज दी। दीर्घकालसे गोवर्धन बहुत ही कम घर आते और जब कभी आते तो शराबके नशेमें चूर, बड़बड़ाते, खीझते, झल्लाते, चीखते और गिरते-पड़ते। बेचारी ब्राह्मणी सम्हालती, नहलाती, खिलाती, सेवा करती, समझाती; परंतु बदलेमें उसे मिलते तिरस्कार, अपमान, वाग्बाण और कभी-कभी मार भी। ब्राह्मणी सब सहती, पतिकी असहाय अवस्थापर विचारकर रो पड़ती और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारती। आज तो वे पूर्ण स्वस्थ

हैं। उनकी आवाजसे ही उनकी स्वाभाविक स्थितिका पता लगता है। पर आज इस स्वाभाविकताके साथ कुछ अन्यजातीय अस्वाभाविकता भी है—वह है पवित्र हृदयकी प्रभु-भक्तिका निर्मल सुधाप्रवाह। ब्राह्मणी आवाज सुनते ही मानो निहाल हो गयी। उसने दौड़कर दरवाजा खोला। गोवर्धन पत्नीके साथ घरके अंदर आये। वह चरणोंपर गिरकर रोने लगी। इधर कृतज्ञ-हृदय गोवर्धनके नेत्रोंमें आँसुओंकी झड़ी लगी थी। गोवर्धनने उसको उठाया और स्नेहसे अपने पास बैठाकर गद्गद कण्ठसे सारी कथा सुनायी। ब्राह्मणी भगवत्कृपाका चमत्कार देखकर कृतार्थ हो गयी और उसका बचा-बचाया जीवन सदाके लिये प्रभुके समर्पण हो गया। समस्त रात्रि संत-चर्चा और भगवच्चर्चामें बीत गयी। प्रातः स्नानादिसे निवृत्त होकर गोवर्धन भगवत्-पूजाकी बात सोच रहे थे कि महात्मा पधार गये।

पति-पत्नी उनके चरणोंपर गिर पड़े। दोनोंका हृदय कृतज्ञता, उल्लास और सर्वसमर्पणकी निश्चयतासे भरा था। महात्माने दोनोंको भगवद्भक्तिका उपदेश और षोडश नामके—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस कलिसन्तरणोपनिषद्के मन्त्रका उपदेश किया और कहा, 'अब तुम्हारा कभी पतन नहीं होगा। तुम दोनों भगवान्के दिव्य धामको और स्वरूपको प्राप्त करोगे।' तदनन्तर भिक्षा आदि करनेके बाद महात्मा अपने स्थानको पधार गये।

इधर ये दोनों भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो गये। ब्राह्मणीका जीवन भक्तिमय था ही। ब्राह्मण भी परम भक्त हुए और अन्तमें भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके दोनों दिव्य धामको पधारे। वहाँ उन्होंने नित्य पार्षदगति प्राप्त की।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संकलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) जो विश्वास कर लेता है कि एकमात्र भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, एकमात्र भगवान् ही मेरे त्राणकर्ता हैं—उससे इस समय यदि पाप भी होते हैं, उसमें कुछ बुरी चीज भी है, तो भी वह शीघ्र ही साधु बन जाता है; क्योंकि उसका यह निश्चय यथार्थ है। ऐसा निश्चय होते ही भगवान्का आश्रय मिल जाता है। तथा भगवान्का आश्रय मिलते ही सारी अच्छाइयाँ अपने-आप वैसे ही आ जाती हैं, जैसे हिमालयमें ठंडक आ जाती है; क्योंकि वहाँ वह ही है।

(२) भगवान्का विश्वास ही एकमात्र ऐसी चीज है, जो सब अच्छाइयोंको ला देती है। हम कैसे हैं, क्या हैं—यह न देखकर भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह देखना अधिक लाभकारी है; इसीमें वास्तविक लाभ है।

(३) भगवान्का बल, भगवान्की कृपाका बल, भगवान्की दयाका बल ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने सब प्रकारके बल परास्त हो जाते हैं। हो क्या जाते हैं, सब परास्त हैं ही।

(४) मनुष्यको अपनी अयोग्यतापर—अपने अपराधोंपर विश्वास करनेके बदले भगवान्की अतुलनीय शक्ति-सामर्थ्यपर विश्वास करना चाहिये। अपनी अयोग्यतापर विश्वास करनेसे उत्साहमें कमी आती है, भगवान्पर विश्वास करनेसे निराशामें भी उत्साह आ जाता है।

(५) भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये वर्ण, जाति, विद्वत्ता, भौतिक बल या धन-सम्पत्ति आदिकी आवश्यकता नहीं; वहाँ आवश्यकता है केवल सरल विश्वासकी। ऐसा विश्वास कोई भी कर सकता है; क्योंकि इसमें धन, विद्या आदि भौतिक साधन कुछ भी नहीं चाहिये। अतएव यह बड़ा आश्वासन है। विश्वास-भरोसा करनेपर भगवान्‌की जितनी भी अच्छाइयाँ हैं, जितना भी सौन्दर्य-माधुर्य है, जितना भी ऐश्वर्य है—सब अपने-आप प्रस्फुटित होने लगता है।

(६) शान्ति, सुख, सद्गुण—ये भगवान्‌पर विश्वास होते ही आ जाते हैं। ये पहले आ जायँ, तब विश्वास होगा—यह कैसे हो सकता है। हम चाहे अपने क्षोभका नाम शान्ति रख लें, सुख रख लें; पर वास्तविक बात यह है कि जबतक हमारे मनमें भगवान्‌पर विश्वास नहीं, भौतिक पदार्थोंपर विश्वास है, दैवी गुणोंपर विश्वास नहीं, आसुरी सम्पत्तिपर विश्वास है, तबतक शान्ति-सुख आदि आ नहीं सकते।

(७) सद्गुणोंकी पूजा और सद्गुणोंके परम आश्रयस्वरूप भगवान्‌की पूजा—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। यदि हम भगवान्‌को अपने जीवनमें उतार लें तो सद्गुण अपने-आप आ जायँ। पर यदि हम भगवान्‌को बिना पकड़े, उन्हें जीवनका आधार बिना बनाये केवल सद्गुणोंको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करें तो पहले तो सद्गुण असली रूपमें आते नहीं; और यदि आये भी तो टिक नहीं सकते—क्योंकि उनका आधार भगवान् नहीं हैं।

(८) 'अहिंसा' और 'भगवान्‌की शरणागति'में बड़ा अन्तर है। अहिंसारूपी सद्गुण भगवान्‌की शरणागति होनेपर स्वाभाविक आ जाता है, भगवान्‌पर और भगवान्‌की शक्तिपर विश्वास हुए बिना वह पूर्णरूपसे ठहरता नहीं। अतः सबसे पहली चीज है भगवान्‌पर विश्वास और सबसे आखिरी चीज है भगवान्‌पर विश्वास।

(९) मनुष्यको चाहिये कि वह भगवान्‌पर और उनकी शक्तिपर विश्वास करे और उसी विश्वासका वितरण करे। भगवान्‌के विश्वासको लोगोंसे हटा देना सबसे बड़ी लोकहत्या है। क्योंकि सुख-शान्ति आदिका जो प्रधान स्रोत है, उसे यदि हमने मिटा दिया तो फिर ये चीजें मिलनेकी ही नहीं।

(१०) सुख-प्रेम बाहर नहीं है, आनन्द बाहर नहीं है। ये अंदर हैं और अंदरकी चीजें मिलेंगी अंदरसे ही। यदि हम बाहरसे इन चीजोंको पकड़ना चाहेंगे तो उत्तरोत्तर इनसे दूर ही हटते जायँगे।

(११) सच्चे सुख-शान्ति आदि मिलें—इसके लिये सबसे आवश्यक बात है भगवान्‌पर विश्वास करना; और जो कुछ भी अपनेमें भला है, उसे जगत्‌को दें तथा जान-बूझकर जगत्‌के किसी भी प्राणीका कभी स्वयं न बुरा करें, न चाहें और न होते देखकर प्रसन्न हों।

(१२) एक मनुष्य भगवान्‌से प्रार्थना करता है—'भगवन्! मुझे अमुक वस्तु या अमुक स्थिति अमुक समयपर और अमुक साधनसे प्रदान कीजिये।' दूसरा कहता है—'भगवन्! अमुक वस्तुके बिना मेरा काम नहीं चलता। आप सर्वसमर्थ हैं, जिस प्रकार उचित समझें, उसी प्रकार मुझे वह वस्तु दीजिये।' इन दोनोंमें तो पहलेकी अपेक्षा दूसरा अच्छा है। क्योंकि पहला तो यह भी विश्वास नहीं करता कि भगवान् अपनी मनचाही वस्तु -अपने मनचाहे समय और अपने मनचाहे साधनसे देंगे तो उसमें मेरा हित होगा। इसीलिये वह भगवान्‌को वस्तु, समय, साधन बतला देता है। दूसरा वस्तु तो अपनी मनचाही चाहता है, पर चाहता है भगवान्‌की जब इच्छा हो तभी और जिस साधनसे हो, उसीसे। एक

तीसरा प्रार्थना करता है कि 'भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मेरा हित किसमें है । अतएव जिसमें आप मेरा हित समझें, वही करें । मेरी इच्छा आपकी इच्छाके विरुद्ध हो तो उसे कभी पूर्ण न करें ।' इसमें भी सकामभाव है । हम अपने लिये चाहते तो हैं, पर समझते हैं कि भगवान् जो कुछ हमारे लिये सोचेंगे, करेंगे, उसमें हमारा अधिक भला होगा, इसलिये उन्हीं-पर छोड़ दें । यह बहुत श्रेष्ठ भाव है ।

इससे ऊँची प्रार्थना यह है कि 'भगवन् ! तुम्हारा मङ्गलमय स्मरण होता रहे, उसमें कभी भूल न हो ।'

(१३) प्रार्थनाका स्वरूप है—भगवान्के साथ विश्वासपूर्वक अपने चित्तका अनन्य संयोग कर देना । ऐसा हुए बिना भगवान्से प्रार्थना होती ही नहीं ।

(१४) प्रार्थनामें श्रद्धा-विश्वास तो है ही, इनके बिना तो प्रार्थना होती ही नहीं; पर दो बातोंकी और आवश्यकता है—पहली, इतना आर्तभाव, जो भगवान्-को द्रवित कर दे और दूसरी, भगवान्की कृपालुतामें परम विश्वास—कि प्रार्थना करनेमात्रकी देर है, प्रार्थना करते ही वह कृपालु मा अपनी गोदमें ले ही लेगी ।

(१५) उत्तम चीज यह है कि हम भगवान्का प्रेमपूर्ण भजन ही चाहें । हमारा कल्याण हो या न हो, इसकी हमें परवा ही नहीं होनी चाहिये ।

(१६) भक्तका सर्वोत्तम भाव यह है कि भजनको छोड़कर भगवान्को भी नहीं चाहता । वस्तुतः ऐसा होता ही नहीं कि भगवान् मिल जायँ और भजन छूट जाय । पर यदि ऐसी कल्पना करें तो वह भगवान्को छोड़ देगा पर भजन नहीं छोड़ सकता ।

(१७) साधनाकी सिद्धि—चाहे पारमार्थिक हो, चाहे लौकिक—विश्वास करनेपर बहुत जल्दी होती है ।

(१८) जो प्रार्थना शब्दोंकी होती है, वह नकली होती है । यों बैठें, यों शब्द पुकारें, इसमें तो नकलीपन आता है । प्रार्थना जो मनसे होती है, वही असली होती है ।

(१९) भगवान् ही एकमात्र मेरे हैं, मेरे परम सुहृद् हैं अर्थात् भगवान्पर विश्वास और भगवान्में अनन्यता—जहाँ ये दो बातें होती हैं वही प्रार्थना सिद्ध होती है । यह केवल भौतिक क्षेत्रमें ही नहीं होती, साधना-क्षेत्रमें भी यही बात है । भक्त ध्रुवके जीवनमें हमें इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है ।

(२०) प्रार्थनासे पहले ही भगवान् उत्तर देते हैं, यह बिल्कुल सत्य है । भगवान्के यहाँ योजना पहलेसे ही बनी रहती है, प्रार्थना करनेपर वह प्रकट हो जाती है । यदि ऐसा न हो तो आवश्यकताके ठीक अवसरपर प्रार्थना करनेसे वह कैसे सिद्ध हो जाती है ।

(२१) लौकिक पदार्थोंके लिये प्रार्थना करना पाप नहीं । पर इसमें हमारा कमीनापन है, ओछापन है । जो वस्तु जानेवाली है, असत्य है, उसके लिये प्रार्थना करना, भगवान्के विश्वासको, भगवान्के भजन-को कौड़ियोंके बदले खोना बड़ा बुरा है । अतएव ऐसा नहीं करना चाहिये, इससे सदा बचना चाहिये । इसमें यह हानि है कि हम बहुत बड़े लाभसे वञ्चित हो जाते हैं । यदि हमारी पूर्ण श्रद्धा न होनेसे कहीं वह प्रार्थना सफल न होगी तो उससे भगवान्के प्रति अविश्वास भी हो सकता है । अतः सकाम प्रार्थनासे बचना चाहिये । भगवान्के लिये भगवान्की प्रार्थना करनी चाहिये—आपकी इच्छा पूर्ण हो और आपकी इच्छा मङ्गलमय है । पर इसमें यह बात न हो कि 'बिना माँगे अपने-आप अधिक मिल जायगा ।' तुलसी-ने केवल दो ही चीजोंके लिये प्रार्थना की—आपका भजन होता रहे और आपके भक्तोंका सङ्ग होता रहे—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

उपभोग

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥
(गीता १५। ९)

'तनिक धीरे !' हम सब कीर्तन कर रहे थे। मेरे समीप बैठे उन वयोवृद्ध पुरुषने मुझे अत्यन्त नम्रतासे रोका। बचपनसे मेरी संगीतमें रुचि नहीं है। निपुण गायकोंके कलात्मक आलाप जिसे 'आयँ आयँ' लगते हों, जो उनके संगीतके रसकी अपेक्षा उनके पूरे खुले मुखमें एक चुटकी चीनी डालनेपर क्या होगा, इस कल्पनामें अधिक आनन्द पाता हो, उसके हाथकी झाँझ बेसुरी बजे, यह स्वाभाविक ही था। मैं अपनी समझसे धीरे-धीरे बजा रहा था। वे मेरे आदरणीय हैं। चेतावनीने संकुचित किया। हाथ सर्वथा रुक गये।

'कीर्तनमें भगवान्‌के नामका आनन्द है।' कभी मेरे एक मित्रने किसी महात्मासे सुनी बात सुनायी थी। 'सुन्दर स्वर, मधुर वाद्य, सम्यक् ताल सुनना हो तो संगीतगोष्ठियोंमें जाना चाहिये। यहाँ तो एक सप्तममें बोलेगा और एक पञ्चममें। एककी ताली पिट्-पिट् करेगी और दूसरेका झाँझ फट्-फट्। यहाँ तो नाममें ही रसानुभव किया जा सकता है। भगवान्‌का नाम ही रसरूप है।' कीर्तन चल रहा था। और मैं अपनी उधेड़-बुनमें था।

'स्वर, साज और एकतानता अपने मनको भी तो तल्लीन करती है!' मैंने सोचा। वे ही आगे-आगे बोल रहे थे। सब मिलकर बोलनेका प्रयत्न न करें, सब झाँझ बेढंगे पीटने लगें तो कोई भी नामका कीर्तन कर कैसे सकता है। 'देवर्षि नारदने लय एवं ताल भंग किया तो राग-रागिनियोंके अङ्गभङ्ग हो गये। उन्होंने देवर्षिको उलाहना दिया।' एक प्राचीन आख्यान स्मरण आया। देवर्षि और कुछ तो गाते नहीं। वे तो सदा भगवान्‌का कीर्तन ही करते हैं। स्वर-ताल तो उनके लिये भी आवश्यक हैं।

'यह अपने बसकी बात नहीं।' मैंने एक प्रकारसे झाँझ बजाना बंद ही कर लिया था। मैं और चाहे जो बन सकूँ, गायक बनना तो दूर, गायनका ठीक श्रोता भी नहीं बन सकता—इस सम्बन्धमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। अपने लिये मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। मेरे पास 'कान' नहीं हैं।

'बेचारे बहिरे!' गायन भी 'श्रुति' है और उसको समझनेके लिये भी विशेष 'कान' चाहिये—यह मनमें आते ही उनका स्मरण आया, जो शब्द सुन ही नहीं सकते। 'कर्णके दुरुपयोगका परिणाम मिला है उन्हें!' जिस इन्द्रियका ठीक उपयोग न होगा, उसकी शक्ति नष्ट हो जायगी—यह बात लोकमें प्रत्यक्ष है। जब किसीकी जन्मसे कोई इन्द्रिय विकृत होती है, तब मान लेते हैं कि उसने पूर्वजन्ममें उसका दुरुपयोग किया है।

'ऐसा भी क्या कीर्तन, जो सबके बसकी बात न हो!' सच तो यह है कि मैं अपनी दुर्बलता संकीर्तनपर लाद रहा था।

'कोई लाठियाँ खटखटाता है, कोई ताली बजाता है, कोई अटपटे आलाप लेता है।' सहसा एक दृश्य आया मनमें। 'गायें बाँ-बाँ करती हैं, बछड़े हुम्मा-हुम्मा पुकारते हैं, बंदर हूप-हूप करते हैं, मेढक टर्राते हैं, मयूर पुकारते हैं और कोयल कूकती है। सब बोलते हैं। सबके शब्द मनमाने और अनियन्त्रित हैं; किंतु जैसे सब एक ही संगीतके साज हैं। सबमें 'सम' है। सब एक लयमें बाँध दिये गये हैं। कदम्बमूलसे तनिक टिककर एक मयूरमुकुटी, पीताम्बरधारी, त्रिभंगसुन्दर खड़ा है। उसकी कोमल लाल अँगुलियाँ मुरलीके छिद्रोंपर फुदकती हैं—फुदकती जाती हैं।

मुरलीकी वह स्वरलहरी, उसमें स्वरभंग नहीं आता। कोई ध्वनि उसके तालमें बाधा नहीं देती। सब ध्वनियाँ, सब स्वर उसके साज बन गये हैं। सब उसे उद्दीप्त करते हैं। सबमें वह साम्य ला रही है।'

मेरे हाथमें झाँझ सम्भवतः फिर वेगसे बजने लगी थी। मैं कह नहीं सकता कि मेरा स्वर दूसरोंसे मिलता है या नहीं; क्योंकि इसे पहचानना मैं जानता ही नहीं। इतनी बात अवश्य है कि मुझे किसीने फिर रोका नहीं।

× × ×

'प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

'सुन्दर मुख, पतली अँगुलियाँ, उज्ज्वल नेत्र' किया क्या जाय ? मन मानता नहीं। दृष्टि इधर-उधर जाती है। 'यह फूला हुआ पैर कितना भद्दा दीखता है।' एक ओरसे नेत्र हटाये तो वे दूसरी ओर गये।

'माताने मुख भी नहीं धोया है।' छोटे-से बच्चेका मुख स्वच्छ न होनेसे विचित्र हो गया था।

'यह अस्वच्छता, यह फूला पैर, वह कोमल मुख!' मनमें एक विचार आया 'वही चर्म, रक्त, मांस और हड्डियाँ! कहीं कोई रोग हो जाय तो·········।' एक रोगीका स्मरण हुआ। उसके पूरे शरीरमें खुजली हुई थी। बड़े-बड़े फोड़े फूट रहे थे। मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। बार-बार कपड़ेसे वह मवाद पोंछता और चिल्लाता था। सारा शरीर सिहर उठा उस स्मृतिसे।

'अच्छे हैं वे, जो इस रूपके धोखेमें नहीं आते!' नेत्रहीनोंका स्मरण हुआ। 'सुन्दर कोमल पुष्प, कलापूर्ण चित्र, कूदते-खेलते शिशु—यदि ये सब विश्वमें न हों ?' जिनके नेत्र नहीं हैं, उनके लिये तो होकर भी ये नहीं हैं। कितना कष्ट होता है नेत्रज्योतिके न रहनेपर—मैं एक कल्पना कर सकता हूँ।

'स्वप्न·········नेत्रहीनके लिये निद्रा ही वरदान है!' जब जीव स्वर्ग और नरकके दृश्य देखता है, तब स्वप्न भी देखता ही होगा। मुझे किसी जन्मान्धसे यह पूछनेका अवसर नहीं मिला कि उसकी स्वप्नकी अनुभूति क्या है ? क्या वह स्वप्न ही नहीं देखता ? वह वहाँ भी अपनेको अन्धा ही देखता है ? रूपका ज्ञान उसे वहाँ भी नहीं होता ? ऐसा तो नहीं होना चाहिये

'सूरदासजी ? लोग कहते हैं कि वे जन्मान्ध नहीं थे। देखनेवाले भी क्या इतना स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं ? तब स्मरणसे भगवान्‌के रूपका वर्णन इतना सूक्ष्म कैसे सम्भव है!' मनको तो कुछ सोचनेको चाहिये। एक पद—पद नहीं, पदके किसी अंशका भाव स्मरण आ रहा है—'श्यामने रोते-रोते दोनों हाथोंसे मलकर काजल नाक और कपोलोंतक फैला दिया है। उसने गोमूत्रमें गीले गोबरको लपेट लिया है इधर-उधर और मैया उसे गोदमें लेकर मुग्ध होकर देख रही हैं। उनकी नवीन साड़ी उस कीचड़से सन गयी, यह सोचतीं ही नहीं वे।'

'जो केसरकी खौर और गोबरके धब्बेसे समानरूपसे भूषित होता है, जिसे मणि और गुञ्जा दोनोंकी मालाएँ भरपूर फबती हैं, जिसकी शोभा कोमल किसलय, कस्तूरिकाङ्गराग या हरी दूर्वा तथा गैरिकको भी शोभित करती है, उसीका रूप तो रूप है!' कुछ पढ़ा जा रहा था। भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यकी कोई बात थी उसमें और मैं सोचता हूँ 'नेत्र क्या भगवान्‌ने ये सड़नेवाले रूप देखनेको ही दिये हैं ? ये रूप—सचमुच ये रूप भी हैं ?'

'मुझे भी बैठने दीजिये।' राजा साहबने तनिक संकोच एवं बन्धुत्वसे आग्रह किया और आगे खिसक आये। उन्होंने कटोरीमेंसे तैल लिया और चरणोंमें मलने लगे। बिवाइयाँ फटीं, काँटेसे कठोर निकले स्थान-स्थानपर चमड़े थे उनके चरणोंमें, और कहाँ ये हाथ, कोमल लाल रुई-जैसे। तनिक-सा किसीसे हाथ मिलाते हैं और अँगुलियाँ ऐसी हो जाती हैं, जैसे उनसे रक्त टपक पड़ेगा।

'अच्छा, आप मलिये चरणोंमें भली प्रकार तैलको!' मैं तो सदासे धृष्ट हूँ। महात्माओंसे भी भय करना चाहिये, यह अपनी समझमें आता ही नहीं। जिनके हृदयमें परत्वकी भावना ही नहीं, मनुष्य उनसे न निर्भय

हो तो और कहाँ निःसंकोच होगा। राजा साहब तो यहाँ आकर राजा नहीं रहते। उनके व्यवहारने उन्हें यहाँके वातावरणमें हिला-मिला दिया है। मैं वहाँसे उठकर मस्तक दबाने लगा।

'भाई! आपके कारण मुझे भी यह सौभाग्य मिला है।' सचमुच राजा साहब चरणोंमें भली प्रकार तैल मल रहे थे। उन्हें आनन्द आ रहा था। उनके हाथ लाल हो गये; पर वे थके हों, ऐसा नहीं लगता था। उनके सेवकने उनका स्थान लेना चाहा, पर वह संकेतसे रोक दिया गया।

'आज बच्चोंका आग्रह विजयी हुआ है।' मैंने हाथोंकी ओर देखा। महात्माने एक बार मेरी ओर देखा था एक विचित्र दृष्टिसे, जैसे कह रहे हों 'बड़ा उद्धत है तू।' मैं जानता हूँ कि वे किसीकी कोई सेवा इस प्रकार स्वीकार नहीं करते। उन्हें बुलानेके लिये अखण्ड कीर्तन करना पड़ता है। उन्हें भोजन कराने और जल पिलानेके लिये निश्चित संख्यामें जप करके पदार्थकी शुद्धि करनी पड़ती है। उनकी तनिक-सी शरीर-सेवाके लिये घंटों जप करके अपनी शरीरशुद्धि आवश्यक होती है। अखण्ड कीर्तन चल रहा था और भोजन-सामग्री उनके साथ आयी थी। यहाँ उन्हें कुछ लेना नहीं था, पर भाव सबसे बड़ी शुद्धि है। मैंने अपने लिये तैलकी शीशी मँगायी थी। नवीन शीशी खोलकर तैल कटोरीमें भर लिया और पैरोंके पास बैठ गया। 'मैं इस समय जप करनेसे रहा!' मेरी हठका तिरस्कार कर नहीं पा रहे थे वे कृपामूर्ति और जब एककी धृष्टता चल गयी, तब दूसरेको कैसे रोका जाय।

'महाराजके चरणोंमें काँटे गड़े हैं!' मैंने देखा राजा साहबके नेत्र भर आये। राजा साहबको भी काँटे चुभे होंगे। शिकारका उन्हें व्यसन है, अतः काँटोंका अनुभव कठिन नहीं। मुझे तो अपना स्मरण है, नागफनीका एक काँटा पैरोंमें सीधा चुभ गया था। लगभग एक इंच भीतरसे उसे खींचनेपर रक्तकी धारा निकल पड़ी। मत पूछिये उस कष्टको!

'इन पैरोंमें लगकर काँटे भी टूटते ही हैं, कष्ट नहीं देते।' एक सीमातक महात्माकी बात ही सच थी। नंगे पैरों चलनेसे तलवेका चर्म बहुत मोटा और कठोर हो गया था। 'तुम्हारे हाथ लाल हो गये, अब रहने दो! वहाँकि मृत चर्मपर तैल भला क्या जान पड़ेगा।' राजा साहबके हाथ सचमुच दया करनेकी स्थितिमें थे।

'भगवान्‌के श्रीचरण मिलेंगे, इसकी तो आशा नहीं।' चरणोंपर मस्तक रखकर फिर वे दुगुने वेगसे तलवोंको मलने लगे। उनके नेत्र कह रहे थे 'दया करके मुझे रोकिये मत!'

'मृदुल और कठोर?' मैं सोचने लगा था 'जब मैं बिछौनेपर बराबर एक स्थानपर पड़ा रहता हूँ, वह कठोर लगने लगता है; पर ये कर जिन चरणोंमें मृदुलता पा रहे हैं आज, वह मृदुलता कैसी है?'

'स्पर्शका तुम्हारा नियम ठीक नहीं दीखता।' मनने कहा। 'वह कुम्हार अपनी पूजाके दिन अग्निपर नंगे पैरों चल रहा था। न तो उसने 'सी' किया और न उसके पैरोंमें छाले पड़े और कल वह पैसे माँग रहा था जूतोंके लिये। दोपहरीमें घर जाते समय धूपमें पैर जलनेका कष्ट सहना उसके लिये भारी हो रहा है।'

'भगवान्‌के चरण दुर्लभ तो नहीं हैं।' महात्मा समझाने लगे। वही प्रेम, निष्ठा, विश्वास, भजन और व्याकुलताकी बात, जो सत्य है—यह जानकर भी मनमें बैठती नहीं। जीवन जिसे स्वीकार करनेमें, पता नहीं, क्यों हिचकता रहता है।

'भगवान्‌के श्रीचरण!' त्वचा सार्थक हो जाय यदि एक बार भी उनका स्पर्श हो। स्नानके लिये जल रक्खा जा चुका था। तैल-मर्दन समाप्त करना ही चाहिये। मैंने देखा राजा साहबकी स्पर्शेन्द्रिय सार्थक हो गयी है। वे महात्माके चरणोंके अँगूठेको नेत्रोंकी पलकोंसे लगा रहे थे।

× × ×

'थोड़ी-सी चटनी लीजिये ! आज बहुत स्वादिष्ट बनी है !'

'मुझे खटाई अच्छी नहीं लगती !'

'आँवलेकी बनी है !'

'तब तो ले लूँगा !' आँवलेसे मुझे कुछ अधिक रुचि है । 'लाल मिर्च तो नहीं पड़ी ?'

'थोड़ी-सी हरी मिर्च पड़ी है । बहुत थोड़ी !' वे इस प्रकार आग्रह कर रहे थे, जैसे कोई अमृत दिया जा रहा हो । रुचिका निर्णय व्यक्ति अपनेसे ही तो करता है ।

'तब मुझे नहीं चाहिये !'

'आप एकदम मिर्च नहीं खाते ?'

'प्रायः नहीं !' और तभी स्मरण आयी एक घटना । मेरे एक मित्रने एक वार अपनी थाली हटायी सामनेसे । बहुत कुछ थालीमें था । उनके नेत्रोंसे पानी बह रहा था । हिचकियाँ आ रही थीं ।

'लाओ, मुझे दे दो !' मैंने वह उच्छिष्ट लेनेका प्रयत्न किया ।

'मैं जूँठा नहीं दूँगा !' वे थाली हटाने लगे ।

'भगवान् बद्रीनाथका प्रसाद उच्छिष्ट नहीं होता !'

'मैं इसे अभी भोजन करूँगा ! मेरा पेट भरा कहाँ है !' मैं आग्रह न करता तो वह कदाचित् प्रसादको सबेरेके लिये रख देते । उस हिम-प्रान्तमें प्रसादमें इतनी मिर्च कदाचित् उचित हो ।

'राधा बड़ी कठिनतासे थोड़ा-सा दूध पीती है ।' मुझे कई बच्चे स्मरण आये । किसीको घीकी गन्धसे अरुचि थी, कोई मीठी चीजोंको फेंक देता था । एक तो नमकको चीनीकी अपेक्षा अधिक प्रेमसे फाँक लेता है ।

'लोगोंका रसास्वाद भी एक नहीं ।' भोजनके साथ मैं उनकी ओर देख रहा था, जिन्होंने पिसी हुई लाल मिर्च ऊपरसे माँगकर अपनी थालीकी दाल लाल बना ली थी ।

'रसो वै सः' रसरूप तो वह लीलामय ही है । श्रुतिने पता नहीं क्या कहा इस मन्त्रमें; पर मन कहता है, 'जिसके प्रसादकी भावनामें ही सब रस केवल रस रह जाते हैं, उसका सचमुच प्रसाद यदि रसनाको मिले ?' मिल तो सकता ही है और संत उससे भिन्न कहाँ हैं ? पर अहङ्कार 'सीथ' को प्रसाद बनने दे तब न !

× × ×

'आप काले वस्त्र क्यों पहनते हैं ?' मैंने उन्हें प्रायः काले कपड़ोंमें ही देखा है । उनका इतना मृदु व्यवहार अपने प्रति न होता तो इतने प्रख्यात विद्वान्से ऐसी बात पूछनेका साहस न होता ।

'मुझे इत्र लगानेका व्यसन है ।' बड़ी सरलतासे उन्होंने बता दिया । 'दूसरे रंगके वस्त्रोंमें धब्बे पड़ जाते हैं ।'

'हमने पूरे शरीरमें प्याजका रस मला । मार्गभर प्याजका टुकड़ा नाकसे लगाये रहे । इतनेपर भी भय था कि कहीं गिरे तो फिर संसारमें लौटनेको उठ नहीं सकेंगे । सिरपर पैर रखकर भागे जा-रहे थे । मस्तिष्कमें बराबर मादकता बढ़ती जाती थी । जैसे निद्रा आ रही हो । अब गिरे तब गिरे !' पूरी बात तो भूल गयी, पर यह किसीकी उत्तराखण्ड-यात्राका एक वर्णन है । वहाँ किसी विशेष सरोवरकी यात्रामें मार्गमें चम्पाका वन पड़ता है । चम्पाके पुष्पोंकी मीलोंतक व्यापक सुगन्ध यात्रीको मूर्छित कर देती है और यदि वहाँ गिर पड़े तो सँभाले कौन । उस सुगन्धसे रक्षाकी व्यवस्था करके ही यात्री मार्ग पार कर पाता है ।

'यहाँ पता नहीं कैसी गन्ध आ रही है !' आज प्रातः मैंने एक साथीसे कहा था । मुझे सम्भवतः दूसरोंकी अपेक्षा गन्धकी कुछ अधिक प्रतीति होती है ।

'मुझे तो सर्दी हुई है !' साथीने कोई जिज्ञासा-का भाव प्रकट नहीं किया ।

'सुना है जो लोग सुगन्धसे दुर्गन्ध और दुर्गन्धसे सुगन्धमें बराबर जाते हैं, उनकी घ्राण-शक्ति नष्ट हो जाती है ।' मेरा अभिप्राय साथीको चिढ़ाना ही था; पर मैं जानता था कि नाकके दूसरे रोगकी चर्चा दुःखद हो जायगी । उसे सुगन्धित तैल लगाने-का व्यसन है और बराबर वह कहता है कि कार्यालय-में उसे ऐसे स्थानपर बैठना पड़ता है, जहाँ दुर्गन्ध

आया करती है। पीछे ही नाली है। उसने मेरी बात-पर ध्यान नहीं दिया उस समय।

'साधनविशेषसे घ्राणशक्ति जाग्रत् हो जाती है!' मैंने कहीं पढ़ा है। मैंने सुना है कि एक महात्मा केवल इच्छासे समीप बैठे लोगोंको चाहे-जैसी सुगन्धका अनुभव करा दिया करते थे।

'कोई दैवी या योगसिद्धि रही होगी।' मन तो एक विचारसे दूसरेपर जाता ही है। 'देवता गन्ध-ग्राही होते हैं। वे सूँघकर ही तृप्ति प्राप्त करते हैं। हमारे लिये सुगन्ध व्यसन है और उनके लिये आहार।' मन सोचता रहा।

'ये पुष्प देवताकी तृप्तिका कारण बन सकते थे।' एक माला टँगी थी। 'अब तो इनमें दुर्गन्ध आयेगी।' पुष्प काले पड़ गये थे।

'सभी पुष्प सड़ते हैं, सभी सुगन्ध दुर्गन्धमें बदलती है!' बुद्धिने भी मनकी सहायता की।

'यह सुगन्ध! भगवान्‌के समीप धूप जलायी गयी दीखती है।' बड़ी सुन्दर सुगन्ध थी। मैंने दो-चार बार कसके श्वास खींचा। 'यह सुगन्ध भी प्रसाद है।'

'भगवान्‌की अम्लान वनमाला, उनके चरणोंपर समर्पित तुलसी-मञ्जरी, उनकी दिव्य गन्ध!' तुलसी-की गन्ध दिव्य ही तो होती है। तुलसी-काननमें जिन्हें बैठनेका अवसर मिला हो, वही उसे जान सकते हैं। 'कहीं वह भी चरणोंपर समर्पित नित्य नवलदलों-की सुरभि हो····नासिकाके ऐसे भाग्य जगतीमें होते तो हैं ही।'

× × ×

'सब लोग सोचते होंगे, यह बड़े ध्यानसे सुन रहा है!' कुछ पढ़ा जा रहा था—कोई सुन्दर महत्त्वपूर्ण निबन्ध और मैं अपनी उधेड़-बुनमें लगा था। 'मन नहीं था यहाँ तो सुनायी क्या पड़े।' मन अपने-आप ही अपनी समालोचना कर रहा था।

'मन न रहनेसे केवल कर्ण ही नहीं—नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका—सब निष्क्रिय हो जाती हैं।' सुनना तो फिर भी मनको था नहीं। उसकी अपनी बात ही चलती रही—'मनकी रुचि ही इन सबके विषयोंको प्रिय या अप्रिय बनाती है और मनका संयोग न हो तो कोई इन्द्रिय काम ही नहीं करती।'

'जब सुननेमें नहीं लगना है, तब जो चाहे सो सोचो!'—मैं चाहता था कि जो कुछ पढ़ा जा रहा है, उसे समझूँ; पर मन जो नहीं मानता। तब मनको ही देखें कि वह करता क्या है।

'मन तो कुछ नहीं सोचता। श्वास भी कदाचित् बंद होना चाहता है। सचमुच श्वास-रोध-जैसा थोड़ा कष्ट ज्ञात हुआ। प्रयत्नपूर्वक दो-तीन बार श्वास लेना पड़ा। 'तब मन भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता।'

'शरीरमें जो चेतन तत्त्व है, मनमें स्थित होकर, मनके द्वारा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध करके वह बाह्य भोगोंमें प्रवृत्त होता है।' यह बात अनेक बार सुनी है, अनेक बार पढ़ी है। आज जैसे उसमें एक अद्भुत प्रकाश आ गया है। उसका भाव जैसे स्वयं जाग्रत् हुआ है।

'स्वप्नमें स्वर्गमें, नरकमें और जाग्रत् दशामें भी मन इन्द्रियोंसे सम्बन्धित होकर तभी भोग उपस्थित करता है, जब चेतन उसमें स्थित होता है।' जाग्रत् दशामें शरीर भोगोंका भोक्ता होता तो निद्रामें और मरनेपर शरीर तो रहता ही है।

'शरीर तो भोगता नहीं और भोग सब शरीर-जैसे ही स्थूल हैं।' मुझे विज्ञानका एक नियम स्मरण आ रहा है—संयोग सर्वथा विषम पदार्थोंका नहीं होता। संयोगके लिये उनमें किसी अंशमें साम्य अपेक्षित है। 'पदार्थोंमें और मनमें क्या समता!'

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।'

'नीला चश्मा लगाया और सब दृश्य नीला हो गया! जड मनने समस्त आनन्दको जडसे प्राप्त भोग कह दिया!' कदाचित् यह बुद्धिका विश्लेषण था। 'जड-का कोई सम्बन्ध चेतनसे हो तो अन्तश्चेतन उस

सम्बन्धसे चेतनको प्राप्त करे ! जडका सम्बन्ध तो जड-में ही जन्म-मरणका चक्र चलाता रहेगा।'

'जडमें चेतनका सम्बन्ध क्या हो।' बुद्धि ठीक ही पूछती है।

'सब कहीं भगवान् हैं। सब भगवान् हैं। सब भगवान्के स्वरूप हैं!' पढ़ना समाप्त हो गया था लेखका और उसका स्पष्टीकरण चल रहा था। 'प्रत्येक शब्द प्रभुका नाम है। उनका गुणगान है। स्तुति है। प्रत्येक रूप भगवान्का दर्शन है। प्रत्येक स्पर्श भगवान्का मङ्गल स्पर्श है। प्रत्येक रसमें उसी रसरूपका रस है। प्रत्येक गन्ध भगवान्के श्रीअङ्गकी दिव्य गन्ध है। हमारा मन निरन्तर भगवान्में रहे, भगवान्का चिन्तन करे तो हमारी सम्पूर्ण क्रिया भगवान्की पूजा हो जायगी।' वे कहते जा रहे थे।

सुन लेता हूँ, अच्छी लगती हैं ये बातें—यदि जीवनमें आ पातीं................!

तन्त्रशास्त्रका विषय तथा वैशिष्ट्य

(लेखक—अध्यापक श्रीनरेन्द्रनाथजी शर्मा चौधुरी, एम्० ए०, शास्त्री, काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

'तन्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्।'

जिस शास्त्रके पठन-पाठन तथा अनुसरणसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, उस शास्त्रका नाम 'तन्त्र' है। इस अर्थमें 'तन्त्र' शब्दसे समस्त शास्त्रोंका ही बोध होता है। तन्त्रशास्त्रका विशेष अर्थ—लोकप्रसिद्ध शिवदुर्गा-प्रकाशित तान्त्रिक धर्मशास्त्र है।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥
(कामिकागमतन्त्र)

तन्त्रशास्त्रसे मन्त्रशास्त्रका बोध होता है। ब्रह्म तथा प्रकृतिका तत्त्व क्या है—इस प्रश्नका विचार तथा सिद्धान्त तन्त्रशास्त्रमें किया गया है। किस प्रकारसे दुःखोंके पंजेसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है, किस उपायसे ऐहिक सुख-सम्पद् तथा पारलौकिक परमानन्द एवं मुक्तिका लाभ हो सकता है, किस उपायसे मनुष्य देवतास्वरूप बन सकता है—इन सब विषयोंका सुन्दर प्रशस्त पथ तन्त्रशास्त्रमें दिखलाया गया है।

जिस प्रकार वेदका नाम 'श्रुति' है, उसी प्रकार तन्त्रका नाम भी 'श्रुति' है। महर्षि हारीतने कहा है—

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिस्तु द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।'

अर्थात् धर्म क्या है—इस विषयको जाननेके लिये श्रुतिका आश्रय लेना पड़ता है। दो प्रकारकी श्रुति है—वैदिक श्रुति तथा तान्त्रिक श्रुति। जिस प्रकार भगवान् ब्रह्मासे वेदोंका प्रकाश हुआ है, उसी प्रकार भगवान् शिवसे तन्त्रोंका प्रकाश हुआ है।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥
(स्वच्छन्दतन्त्र)

सदाशिवने कभी गुरुरूपसे और कभी शिष्यरूपसे तन्त्र-तत्त्वोंका प्रकाश किया है। जिस प्रकार वेद गुरु-शिष्यपरम्परा-द्वारा 'श्रुति' नामसे संसारमें प्रचारित हैं, उसी प्रकार तन्त्र भी गुरु-शिष्यपरम्पराद्वारा 'श्रुति' नामसे संसारमें ख्यात हुए हैं।

कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम्।
(वामकेश्वरतन्त्र)

मन्त्रोंकी 'अघटनघटनापटीयसी' शक्ति है। अद्वैतवादी आचार्य शङ्करने भी शारीरकभाष्यमें इस विषयका उल्लेख किया है—

लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकाल-निमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते।

इस उक्तिका मर्म यह है—जिस प्रकार मणि तथा ओषधिकी अचिन्त्य शक्तिका परिचय इस संसारमें पद-पदपर प्राप्त होता है, उसी प्रकार मन्त्रोंकी भी अचिन्त्य शक्ति है। इस शक्तिका ज्ञान सद्गुरुके उपदेशोंसे प्राप्त होता है, केवल युक्ति-तर्कसे इस विषयका ज्ञान नहीं होता। तन्त्रशास्त्रके केवल अध्ययनसे गूढ़ रहस्योंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, आचरण तथा प्रयोगकी आवश्यकता है। तन्त्रमें विशिष्ट-कर्मी बनना चाहिये। कार्य करनेपर ही बोध हो जायगा कि मन्त्रोंकी जिस प्रकार शक्ति वर्णित है, वह शक्ति यथार्थ सत्य है। विद्याके बलसे तन्त्रोंका रहस्य परिज्ञात नहीं होता।

विद्याबलेन यः कश्चिदागमार्थं विचारयेत्।
परान् दिशति धर्मार्थं स पतेन्नरके ध्रुवम्॥
(साधनप्रदीप)

वेद तथा तन्त्रमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है, भेद केवल दृष्टिकोणका है। महाभागवत ग्रन्थमें देवीजीने कहा है—

आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर।
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
(तन्त्रतत्त्व)

इसका तात्पर्य यह है—वेद तथा तन्त्र पराशक्तिके दो बाहु हैं। इन दो भुजाओंसे जगदम्बा चराचर जगत्की रक्षा करती है।

अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरुण आदि वेदके प्रधान देवता हैं। ये सभी देवता पुरुष हैं। उषा-प्रभृति स्त्री-देवताओंकी संख्या वेदमें अत्यन्त कम है। वेदमें अग्नि, इन्द्र प्रभृति पुरुष-देवताओंको जो स्थान दिया गया है, अग्निशक्ति स्वाहाको तथा इन्द्रशक्ति इन्द्राणीको उसी प्रकारका स्थान नहीं दिया गया है। किंतु तन्त्रशास्त्रने शक्तिको ही—जगदम्बाको ही—विशिष्ट आसन प्रदान किया है। तन्त्रका विचार है—अग्निकी दाहिका शक्ति ही तो अग्नि है, दाहिका शक्तिके नाश होनेपर अग्निका अग्नित्व नहीं रह जाता। शक्ति तथा शक्तिमान्में भेद कहाँ है ? शक्तिमान्का जीवन ही तो शक्ति है। जो कुछ हो रहा है, वह शक्तिका ही तो कार्य है।

ब्रह्माणी कुरुते सृष्टिं न तु ब्रह्मा कदाचन।
....
प्रकृतिं च विना देवि सर्वे कार्याक्षमा ध्रुवम् ॥
(कुब्जिकातन्त्र)

इस दृष्टिकोणके भेदके कारण वैदिक तथा तान्त्रिक उपासना-पद्धतिमें कुछ भेद आ गया है। तन्त्रोंके सिद्धान्तमें—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
(देवीभागवत)

शिवकी शक्ति कुण्डलिनी जब शिवसे पृथक् हो जाती है, तब शिव भी शव बन जाते हैं। अतएव शिवकी पूजाका प्रकृत अर्थ शिव-शक्तिकी पूजा है। शक्तिको पृथक् करनेसे शिवका अस्तित्व नहीं रहता।

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।
(शक्तिसङ्गमतन्त्र)

इस शक्ति-पूजामें सभीका ही अधिकार है, परंतु वेदमें सबका अधिकार नहीं है। नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद्में कहा है—

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति।

परंतु तन्त्रशास्त्रमें इस प्रकारका कोई भी नियम नहीं है—

विप्राद्यन्तजपर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भूतले।
ते सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुरधिकारिणः ॥
(महानिर्वाणतन्त्र)

तन्त्रोंके श्रेष्ठाचार—कुलाचारमें—विप्रसे शूद्रपर्यन्त सभी मनुष्योंका अधिकार है। तन्त्रमें जातिभेदका आदर नहीं किया गया है। इसमें आदर है पुरुषकारका। परंतु इन सब वक्तव्योंका यह अर्थ नहीं है कि तन्त्र वेदविरुद्ध हैं। प्रत्युत उपनिषदोंके प्रयोगात्मक व्याख्यान ही तन्त्रोंमें दिये गये हैं। उपनिषद्में उक्त है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥
(ईशोपनिषद्)

केवल ब्रह्मविद्यासे ही कार्य नहीं चलेगा, प्रकृतिको भी जान लेना चाहिये। यह विश्व ब्रह्मका ही अंश है, विश्वको पृथक् करनेसे ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता है परंतु इसका सुगम पथ क्या है, सुगम उपाय क्या है, किस प्रकारसे संसारके द्वारा ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि विषयोंका ठीक-ठीक निर्णय तन्त्ररूपी बृहत् प्रयोगशालामें ही उपलब्ध है। इस प्रयोगशालाका अनुसन्धान प्राप्त न होनेसे वैदिक उपनिषदोंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः तन्त्रोंको उपनिषदोंकी क्रियात्मक तथा व्यावहारिक व्याख्या कहा जाता है। परंतु यह व्याख्या किस प्रकारकी है, वह पथ किस प्रकारका है—इन सब विषयोंको जाननेके लिये अनुभवी सद्गुरुका अनुसन्धान करना पड़ता है। उनकी शरण लेनेपर ही ज्ञानकी प्राप्ति सम्भव होती है, तभी ज्ञान तथा कर्मका भेद दूर हो जाता है, शिव एवं शक्ति एक हो जाते हैं, कुण्डलिनी-शक्ति परमशिवसे मिल जाती है, तथा जीवनको आनन्दमय और अमृतमय कर देती है; परंतु इस तान्त्रिक दीक्षामें दीक्षित होनेके लिये हृदयकी उदारता एवं विशालताकी आवश्यकता है। तन्त्र-धर्ममें सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपनेको भी देवतास्वरूप बन जाना पड़ता है—

देव एव यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत्। (गन्धर्वतन्त्र)

स्वयं देवतास्वरूप नहीं बननेसे देवताकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव तान्त्रिक धर्ममें सबका अधिकार होनेपर भी इस धर्ममें यथार्थतः अधिकारियोंकी संख्या बहुत ही कम है। भोगसे परिवेष्टित होकर भी परमपदको प्राप्त करना बहुत ही कठिन समस्या है। कुलार्णवतन्त्रमें वर्णित है—

कृपाणधारागमनाद् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलसाधनम् ॥

'अर्थात् कृपाणकी तीक्ष्ण धारापर गमन भी सहज है, व्याघ्रका कण्ठालिङ्गन भी सहज है, फणीके फणपर हस्तक्षेप भी सहज है; किंतु तन्त्रका कुलसाधन इन सबसे अत्यन्त कठिन है।' परंतु इस तन्त्रमार्गका विशेष आकर्षण यह है कि—

भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव। (रुद्रयामल)

तन्त्रमें संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। संसारमें रहकर भी परमपदकी प्राप्तिके लिये सुन्दर पथ तन्त्रमें दिखलाया गया है। किंतु पथ-प्रदर्शककी प्राप्ति न होनेसे, सद्गुरुके न मिलनेसे इस पथपर चलना अत्यन्त कठिन होता है। किंतु यदि सद्गुरु मिल जाय तो अति अल्प समयमें ही एवं अति अल्प परिश्रमसे ही असम्भव भी सम्भव हो जाता है, उद्देश्यकी पूर्ति होती है, अमृतका अनुसन्धान प्राप्त हो जाता है, साधक स्वयं शिव बन जाता है।

तन्त्रोंके बीजमन्त्र देवताओंके प्रतीक हैं। मन्त्र तथा देवताओंमें लेशमात्रका भी भेद नहीं है। मन्त्रसिद्धिका अर्थ ही देवतासिद्धि है। मन्त्रसिद्धि होनेपर साधक स्वयं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बन जाता है।

तन्त्रोंकी पाँच प्रसिद्ध शाखाएँ हैं। इन शाखाओंमें शक्तिशाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। शाक्त तन्त्रोंमें काली, तारा, षोडशी इत्यादि दश महाविद्याएँ ही प्रधान हैं। दश महाविद्याओंमें भगवती काली आद्या शक्ति हैं। भगवती कालीके पुरुषरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जगत्की रक्षाके लिये पराशक्ति आविर्भूत होती है। सप्तशती महाग्रन्थमें देवीने स्वयं कहा है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इसी प्रकारकी उक्ति भगवद्गीतामें भी मिलती है। इस पराशक्तिकी कालीमूर्तिका तत्त्व अत्यन्त गम्भीर है। अथर्ववेदमें उक्त है—

तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः।

काल ही सबसे अधिक शक्तिशाली है। इस कालकी शक्तिका नाम ही काली है। कालशक्तिका कार्य केवल संहार ही नहीं है, अपितु सृष्टि तथा पालन भी हैं। इसी गूढ़ तत्त्वको कालीमूर्तिमें परिस्फुट किया गया है। काली न तो पुरुष है और न स्त्री, तथापि साधकोंके ध्यानादिमें सुविधाके लिये इस महाशक्तिकी मातृरूपमें ही कल्पना की गयी है।

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जडः स्मृतः।
तथापि कल्पवल्लीवत् स्त्रीशब्देनैव युज्यते॥
(नवरत्नेश्वर)

तत्त्वतः ब्रह्म, शिव, दशावतार, दशमहाविद्या इत्यादि भिन्न-भिन्न देवताओंमें कुछ भी भेद नहीं है। एक ही पराशक्तिको भिन्न महिमा तथा कार्यके निमित्तसे भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप दिये गये हैं। ऋग्वेदमें भी कहा है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

विप्रोंने एक ही ब्रह्मका नाना रूपोंमें दर्शन तथा प्रकाश किया है। भगवती काली कालसे—महाकाल शिवसे भिन्न नहीं हैं।

सा शिवा परमा ज्ञेया शिवाभिन्ना शिवङ्करी।
(सूतसंहिता)

इस कालीकी पूजामें साधकको भी कालीस्वरूप हो जाना पड़ता है। कालिकोपनिषद्में कहा है—

कालीरूपमात्मानं विभावयेत्।

कालीभावनाके बलसे कालीत्व प्राप्तकर कालशक्तिकी भीषण भीतिसे मुक्ति प्राप्त करना ही कालीपूजाका अन्यतम उद्देश्य है। कालशक्तिपर जय प्राप्त करनेपर ही जरा-मरणका भय दूर हो सकता है, परम सुख तथा शान्ति मिलती है; द्वेष, विवाद आदि समस्त अनर्थ ही दूर हो जाते हैं, और भेदमें अभेद आ जाता है। इस प्रकारसे तन्त्रकी मातृपूजाके दार्शनिक तत्त्वने भारतीय धर्ममतमें एक नूतन स्रोतको प्रवाहित किया है। द्वैतवादके द्वारा ही अद्वैतवादकी स्थापना की है। माताके आसनको अत्यन्त उन्नत कर दिया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु सब स्त्रियोंमें जगदम्बाकी ही प्रतिष्ठा की है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
(सप्तशती)

परंतु 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डकोपनिषद्)। बलकी—शक्तिकी आवश्यकता है। बल अथवा शक्तिके बिना आत्मलाभ नहीं होता। अतः शक्ति-पूजाकी—कालीपूजाकी—बड़ी आवश्यकता है। शक्तिकी साधनामें—कालीकी साधनामें—सिद्धि प्राप्त होनेपर ही ऐहिक तथा पारत्रिक सब समस्याओंका समाधान हो जाता है, पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है, विश्व आनन्दमय बन जाता है। एकता, प्रीति, भ्रातृत्व तथा विश्व—संसारकी सुख-शान्तिका समाधान ही तन्त्र-शास्त्रका दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपदेश है। यही शक्ति-पूजाका परम तत्त्व तथा रहस्य है।

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
भ्रातरो भैरवाः सर्वे स्वभवनं भुवनत्रयम्॥
(तन्त्रतत्त्व)

श्रीहरिः

नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयी !!

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित दो नयी पुस्तकें

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ६

आकार—डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४५६, एक सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य १) डाकखर्च ॥) कुल १॥), सजिल्द १।=) डाकखर्च ॥-) कुल १॥।≡) मात्र।

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंके पाँच संग्रह 'तत्त्व-चिन्तामणि'के नामसे पाँच भागोंमें पहले प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें उनके ३४ लेखोंका संग्रह है। इस भागमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, वैराग्य, सदाचार आदि सभी विषयोंका समावेश है। आदर्श महापुरुषों और सन्नारियोंके चरित्र तथा अनेक कथा-कहानियोंसे युक्त होनेसे यह भाग सभीके लिये बहुत ही उपादेय एवं रोचक हुआ है। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के पूर्व-प्रकाशित पाँचों भागोंको पढ़कर जिन लोगोंने लाभ उठाया है, उन लोगोंसे इस ग्रन्थकी उपादेयता छिपी नहीं है। यह बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीके कामकी चीज है। पहलेकी भाँति इससे भी भारतके नर-नारी पारमार्थिक लाभ उठावेंगे, ऐसी आशा और प्रार्थना है।

परमार्थ-पत्रावली भाग ३

आकार—डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २००, एक सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ॥) मात्र; डाकखर्च ।≡) कुल ॥।≡) मात्र।

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्रोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित हो चुके हैं। इन पत्रोंमें संक्षेपतः उपादेय विषयोंका कितना सरल, सुन्दर और प्रभावोत्पादक विवेचन रहता है—यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। जिज्ञासुओंकी परमार्थविषयक रुचि एवं सत्संग-प्रेमको बढ़ाने तथा आन्तरिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेमें इन पत्रोंद्वारा बहुत सहायता मिलती है; इस परम लाभकी दृष्टिसे ही यह तीसरा भाग प्रकाशित किया गया है। इसमें ७२ पत्रोंका संग्रह है। पाठकोंको इस संग्रहसे लाभ उठाना चाहिये।

नीचे लिखी पुस्तकें मिलने लगीं—

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
गीता मझोली सटीक पदच्छेद, अन्वयसहित	॥≡)	विनय-पत्रिका भावार्थसहित	१)
सजिल्द ...	१)	सजिल्द ...	१।=)
गीता सटीक मोटा टाइप ...	॥)	तत्त्व-चिन्तामणि (बड़ा) भाग ३ ...	॥≡)
सजिल्द ...	।॥=)	सजिल्द ...	१-)

ये पुस्तकें बहुत दिनोंसे समाप्त हो गयी थीं; परन्तु अब पुनः छपकर तैयार हो गयी हैं। खर्च बढ़ जानेसे सजिल्दके दाम पहलेकी अपेक्षा कुछ बढ़ाये गये हैं। जिनको आवश्यकता हो, पुस्तकें मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'पर कौन क्या कहते हैं—

महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

"इस अङ्कको पढ़नेसे भारतीय संस्कृतिका जागता हुआ एक चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय संस्कृतिका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किसी एक ग्रन्थमें सकल साधारण लोगोंके समझनेके योग्य शब्दोंमें आजतक देख नहीं पड़ा था। ××× इस घोर कलिकालमें, जब कि चारों ओरसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर इतना प्रहार हो रहा है और इसके रक्षक ही जब इसके भक्षक हो चले हैं, इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशितकर भारतीयोंके हृदयमें संस्कृतिके संस्कारको पुनः जगाया है। प्रत्येक भारतीयको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और अपने पास सदा रखना चाहिये।.... परीक्षाकी बधाईके स्थानमें यही अङ्क उपहारस्वरूपमें दिया जाय। इसका प्रयत्न लोग करें। ××××"

युक्तप्रान्तीय सरकारके शिक्षा और अर्थमन्त्री माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी—

"××× अङ्क बहुत अच्छा है और इस विषयमें अभिरुचि रखनेवालोंको इसमें बहुत-सी परमोपयोगी सामग्री प्राप्त होगी।"

हिंदी-संसारके लब्धप्रतिष्ठ पुराने महारथी पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी—

"×××× हिंदू-संस्कृतिपर इतना पूर्ण और उपयोगी संकलन हिंदी भाषामें अबतक नहीं था। ××× चुने हुए प्रामाणिक विद्वानोंसे जो लेख प्राप्त किये गये हैं, सबकी सराहनाके लिये हृदय-सहमत शब्द नहीं हैं। यह तो हिंदू-जातिका ज्ञान-कोश है। ×××"

हिंदीके प्रसिद्ध और गम्भीर लेखक डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०—

"×××× लगभग नौ सौ पृष्ठोंकी इतनी बहुविध सुपाठ्य और रोचक सामग्री इस अङ्कमें एकत्र देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, कला और जीवन-के कितने ही महत्त्वपूर्ण अंशोंपर प्रकाश डाला गया है। कलाके चित्रोंका चुनाव कल्याण-के लिये एक नवीन आयोजन है। ×××× भारतीय संस्कृतिकी सामग्री तो वस्तुतः अपरम्पार है। उसका जितना अधिक व्याख्यान एवं रूप प्रकाशन किया जाय, स्वागतके योग्य है। ×× इस अङ्कके सम्पादन, प्रकाशनसे एक अभावकी पूर्ति हुई है। ××××"

थोड़े अङ्क बचे हैं। जिनको ग्राहक बनना हो, वे ७।) रुपये मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी० से भेजनेका आदेश तुरंत लिखें।